मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी सिद्धान्तों के बारे में 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप के नेतृत्व की "समझदारी": एक आलोचना

(दूसरा भाग)

· अभिनव

पिछली किश्त में हमने 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप के नेतृत्व की विचारधारात्मक और राजनीतिक समझदारी, या कहें, समझदारी के पूर्ण अभाव का आलोचनात्मक विवेचन पेश किया था। इस दूसरी और आखिरी किश्त में हम राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में और साथ ही इतिहास व तथ्यों की जानकारी के क्षेत्र में इनकी "समझदारी" की समालोचना रखेंगे।

4. राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सुखविन्दर के "एडवेंचर्स"

अगर अभी तक आप मार्क्सवादी दर्शन, विचारधारा की अवधारणा के पूरे इतिहास, ऐतिहासिक भौतिकवाद के विषय में सुखविन्दर की "समझदारी" को लेकर चकित थे, तो राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में उनके "इजाफ़ों" को देखकर आप कुर्सी से गिर भी सकते हैं!

यहां तो उन्होंने और भी स्पष्टता से दिखलाया है कि मार्क्स की राजनीतिक अर्थशास्त्र सम्बन्धी मूल रचनाओं को पढ़ना तो बहुत दूर की बात है, उन्होंने राजनीतिक अर्थशास्त्र की किसी शुरुआती पाठ्यपुस्तक का भी अध्ययन नहीं किया है। उन्हें बिल्कुल शुरू से किसी की मदद से राजनीतिक अर्थशास्त्र के एकदम बुनियादी सिद्धान्तों के अध्ययन से शुरुआत करने की सख़्त ज़रूरत है। और हम आगे तथ्यों व प्रमाणों के साथ प्रदर्शित करेंगे कि हम यहां ज़रा भी अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग नहीं कर रहे हैं।

आइये, अब क्रम से सुखविन्दर द्वारा राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में गाड़े गए "झण्डों" की पड़ताल करते हैं।

मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की आरम्भिक व बुनियादी श्रेणियों व अवधारणाओं के विषय में सुखविन्दर का निपट अपढ़पन

राजनीतिक अर्थशास्त्र की कुछ बुनियादी अवधारणाओं के विषय में सुखविन्दर की "समझदारी" को देखते हैं। जैसे कि मूल्य क्या है, मूल्य का निर्धारण कैसे होता है, सापेक्षिक बेशी मूल्य को पूंजीपति वर्ग कैसे बढ़ाता है, तकनोलॉजी की क्या भूमिका होती है, तकनोलॉजी और बेरोज़गारी का क्या सम्बन्ध होता है, कच्चा माल किसे कहा जाता है,

इत्यादि।

कच्चा माल और मशीनरी के विषय में सुखविन्दर के विचित्र विचार

सुखविन्दर कहते हैं:

> "एक कच्चा माल वगैरह, वगैरह मशीनरी आदि, इसे आसान करने के लिए हम कच्चा माल शब्द का उपयोग करते हैं, इसमें सबकुछ आ जाता है।"

बिल्कुल ग़लत। किसी सरलीकरण हेतु भी ऐसा करना मूर्खतापूर्ण है। कच्चा माल व मशीनें दोनों स्थिर पूंजी के भौतिक तत्व हैं लेकिन उनमें बुनियादी अन्तर है। पुनरुत्पादन (reproduction) और मूल्य के स्थानान्तरण (transfer of value) की दोनों की प्रक्रिया बिल्कुल भिन्न होती है और उत्पादन में उनके भौतिक रूपान्तरण की प्रक्रिया भी बिल्कुल भिन्न होती है। **इसलिए कच्चा माल में मशीनरी व अचल पूंजी (fixed capital) के अन्य तत्वों को नहीं जोड़ा जा सकता है क्योंकि यह बिल्कुल ग़लत नतीजों तक ले जाता है।**

कच्चा माल भौतिक रूप से माल में स्थानान्तरित हो जाता है और साथ ही एक ही बार में उसका पूरा मूल्य माल में स्थानान्तरित हो जाता है। मार्क्स इसी वजह से इसे **चल पूंजी (circulating capital)** के अन्तर्गत रखते हैं। लेकिन मशीन न तो भौतिक रूप से माल में स्थानान्तरित होती है और न ही उसका मूल्य एक बार में माल में स्थानान्तरित होता है। मशीन का समय के साथ क्षरण होता है और इस क्षरण की दर के अनुसार ही उसका मूल्य माल में स्थानान्तरित होता है। स्वयं मशीन भौतिक तौर पर माल में नहीं स्थानान्तरित होती है। लेकिन कच्चा माल होता है।

इसीलिए मशीनरी को कच्चे माल में शामिल नहीं किया जा सकता है, हालांकि दोनों ही स्थिर पूंजी के तत्व हैं। लेकिन मशीनरी अचल पूंजी (fixed capital) का तत्व है, जबकि कच्चा माल चल पूंजी (circulating capital) का तत्व है। चल और अचल पूंजी का बंटवारा ही इस आधार पर किया गया कि मूल्य एक बार में माल में स्थानान्तरित होता है या क्रमिक प्रक्रिया में। **यह मार्क्स के राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी उसूलों में से एक है और मार्क्स के राजनीतिक अर्थशास्त्र को यह स्मिथ व रिकार्डो के राजनीतिक अर्थशास्त्र से अलग भी करता है क्योंकि स्मिथ व रिकार्डो चल और अचल पूंजी के भेद को ही समझते थे, लेकिन स्थिर व परिवर्तनशील पूंजी के भेद को नहीं।** मार्क्स ने स्पष्ट किया कि कच्चा माल व मशीनरी दोनों स्थिर पूंजी का अंग हैं, लेकिन अलग किस्म के अंग; उन्हें एक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उनमें से एक का मूल्य एक बार में ही स्थानान्तरित हो जाता है (यानी कच्चा माल, जो कि चल पूंजी का हिस्सा है) और दूसरे का मूल्य क्रमिक प्रक्रिया में माल में स्थानान्तरित होता है (यानी, मशीनरी, इमारत, इत्यादि जो कि अचल पूंजी का हिस्सा है)। **दोनों की भौतिक भूमिका (physical role) और मूल्य स्थानान्तरण (transfer of value) में भूमिका बिल्कुल अलग है और इसीलिए कच्चा माल और मशीनरी को एक नहीं माना जा सकता है।**

अब यह मार्क्सवादी आर्थिक सिद्धान्त की बुनियादी शिक्षा है। लेकिन सुखविन्दर को इतना भी नहीं पता है, हालांकि उन्होंने यह दावा किया है कि सन 2000 तक उन्होंने सोवियत पोलिटिकल इकोनॉमी की पाठ्यपुस्तक

पढ़ ली थी! हमें शक़ है। क्योंकि अगर उन्होंने यह पाठ्यपुस्तक भी पढ़ी होती तो ऐसी मूर्खतापूर्ण बातें न करते।

आगे बढ़ते हैं।

मूल्य की अवधारणा के विषय में सुखविन्दर का अज्ञान

सुखविन्दर दिखलाते हैं कि वह **मूल्य के सारतत्व (substance of value)** और **मूल्य की माप (measure of value)** के बीच अन्तर के बारे में भी नहीं जानते हैं। यह तो मार्क्स से ही नहीं बल्कि स्मिथ व रिकार्डो से भी पीछे जाने वाली बात है। सुखविन्दर कहते हैं:

> "किसी भी चीज़ के उत्पादन पर लगा हुआ जो समय होता है, श्रम-काल होता है, उसे हम कहते हैं मूल्य। मूल्य क्या होता है, किसी भी चीज़ के उत्पादन में लगा हुआ श्रम-काल।"

ग़लत! **यह दिखलाता है कि सुखविंदर ने मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की किसी बुनियादी पुस्तक का भी गम्भीरतापूर्वक अध्ययन नहीं किया है। श्रमकाल अपने आप में मूल्य नहीं होता है, बल्कि *सामाजिक रूप से आवश्यक* श्रमकाल मूल्य *की माप* होता है; मूल्य स्वयं और कुछ नहीं बल्कि वस्तुकृत अमूर्त मानवीय श्रम (objectified abstract human labour) है। इस अमूर्त श्रम को *मापा* श्रमकाल में जाता है, लेकिन वैयक्तिक श्रमकालों में नहीं, बल्कि सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल में, जिस पर हम आगे आएंगे। तो फिर सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल क्या है? <u>यह श्रमकाल मूल्य की माप है, न कि स्वयं मूल्य, जैसा कि सुखविन्दर को लगता है।</u>**

मिसाल के तौर पर, यदि आप दो किलो गेहूं को नापते हैं, तो दो किलो का बटखरा ही गेहूं नहीं बन जाता है, बल्कि वह गेहूं के परिमाण की माप होता है।

दूसरी बात, यदि कोई मूल्य और श्रमकाल को एक कर देता है तो वह मार्क्स की श्रम की सघनता (intensity of labour) की अवधारणा को भी नहीं समझ सकता है। इसका अर्थ होता है एक इकाई समय में खर्च होने वाला श्रम। पूंजीपति सापेक्षिक अतिरिक्त मूल्य को बढ़ाने के लिए मज़दूरों की श्रमशक्ति के भौतिक तत्वों का उत्पादन करने वाले उद्योगों में उत्पादकता को बढ़ाकर श्रमशक्ति के मूल्य को कम करने के अलावा, श्रम की सघनता को बढ़ाकर भी बिना श्रमकाल (कार्यदिवस) को बढ़ाए अतिरिक्त मूल्य की दर में बढ़ोत्तरी करता है। **यानी, वह 8 घण्टे के कार्यदिवस में ही मज़दूर की श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों में उत्पादकता को बढ़ाए बगैर भी श्रम प्रक्रिया को ज्यादा सघन बनाकर उतने ही श्रमकाल में मज़दूरों से ज्यादा श्रम करवा सकता है; मसलन, वह तमाम ब्रेक के समय को, जैसे भोजन का ब्रेक, बाथरूम ब्रेक आदि को कम करके उतने ही श्रमकाल में अधिक श्रम करवा सकता है। मार्क्स ने इसी को श्रम की सघनता (intensity of labour) बढ़ाना कहा।**

अब अगर सुखविन्दर की मानें तो श्रमकाल और मूल्य एक ही हैं! लेकिन अगर ऐसा है तो मार्क्स की श्रम की सघनता की अवधारणा ही ग़लत हो जाएगी। यही वजह है कि मार्क्स मूल्य को वस्तुकृत श्रम (objectified labour या congealed labour) कहते हैं, जबकि सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल को मूल्य की माप

कहते हैं। **यह भी मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का 'ए बी सी' है, जिसे न जानने के लिए सुखविन्दर जगरूप को बार-बार फटकार लगाते हैं, लेकिन सच्चाई यह सामने आती है सुखविन्दर की स्थिति इस मामले में जगरूप से बहुत अच्छी नहीं है बल्कि कुछ मामलों में तो बुरी भी है, जैसा कि हम आगे दिखलाएंगे।**

दूसरी बात यह श्रमकाल नहीं होता है जो मूल्य की माप होता है, बल्कि ***सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल*** होता है। सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल का अर्थ है उत्पादन व कुशलता की औसत सामाजिक स्थितियों में माल के उत्पादन हेतु आवश्यक श्रमकाल। **लेकिन सुखविन्दर हर जगह श्रमकाल को मूल्य बताते हैं। श्रमकाल मूल्य तो होता ही नहीं है और मूल्य की माप भी श्रमकाल नहीं बल्कि सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल होता है, और यह कोई छोटा-मोटा विभेद नहीं है, बल्कि इसे स्पष्ट करने के लिए मार्क्स 'पूंजी' में कई पन्ने खर्च करते हैं। फिर कहूंगा कि यह भी मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का इमला है, जिससे सुखविन्दर नावाकिफ हैं।**

मूल्य और कीमत: सुखविन्दर के भ्रम-दिग्भ्रम-मतिभ्रम

आगे देखें कि सुखविन्दर किस प्रकार अपने भ्रम को विस्तार देते हैं:

> "जैसे हम दूध को लीटर में मापते हैं, पानी को लीटर में मापते हैं, दूरी को मीटर में मापते हैं, काम को घंटों में मापेंगे न? काम तो घंटों में ही मापा जायेगा कि मैंने 8 घंटे काम किया, 10 घंटे काम किया। किसी चीज़ के उत्पादन में जितने घंटे उस पर काम हुआ है, उतना ही उसका मूल्य है। जो कच्चा माल या अन्य चीज़े हैं, उन पर श्रम हो चुका होता है। समझ गए? मतलब किसी चीज़ पर 10 घंटे काम हुआ, वह 10 घंटे काम होकर बाज़ार में आ गई। अब उसका मूल्य 10 घंटे ही रहेगा, जब तक उस पर और श्रम नहीं होता है। मान लो, एक फैक्ट्री में धागा बनकर दूसरी फैक्ट्री में आ गया। उस फैक्ट्री में उस धागे पर 10 घंटे काम हुआ था। अब वो दस घंटे ही रहेगा न, बढ़ थोड़ा न जायेगा। मज़दूर जब उस पर 10 घंटे और लगाकर कपड़ा बना देता है, तो अब उसका मूल्य कितना हो गया, 20 घंटे हो गया न। 10 घंटे की जगह 20 घंटे हो गई। अब मान लो, एक घंटे के मूल्य की कीमत 10 रुपये है। **तो जब हम उसे मुद्रा में मापते हैं तो उसकी कीमत बन जाती है।**"

यहां भी भ्रम ही भ्रम है। आइये देखते हैं कैसे।

पहली बात तो यह है कि जब हम किसी वस्तु के मूल्य को सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल में मापते हैं, तो वहां हम मूल्य के परिमाणात्मक पहलू की बात कर रहे हैं, उसके गुणात्मक पहलू या उसके सारतत्व की नहीं। **इसलिए जब हम श्रमकाल में मूल्य की बात करते हैं, तो हम मूल्य के परिमाण की बात कर रहे होते हैं, उसके सारतत्व या उसके गुणात्मक पहलू की नहीं, जो कि स्वयं वस्तुकृत हो चुका अमूर्त श्रम है।**

अमूर्त श्रम अपने जम गये रूप में (congealed form) या वस्तुकृत रूप में (objectified form) स्वयं मूल्य ही है; **दूसरे शब्दों में मूल्य और कुछ नहीं बल्कि वस्तुकृत अमूर्त श्रम है, जैसा कि हमने ऊपर बताया। यह तो हो गया मूल्य के गुणात्मक पहलू या उसके सारतत्व (substance) का प्रश्न।**

इसके बाद, यदि मालों का विनिमय होता है, तो वह निश्चित परिमाणात्मक अनुपात में होता है। यह है मूल्य का

परिमाणात्मक पहलू, जिसे सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल अभिव्यक्त करता है। इसलिए जब हम दो मालों का विनिमय करते हैं, तो यह विनिमय हो क्यों सकता है या हो क्यों पा रहा है, यह इस पर निर्भर करता है कि दोनों ही श्रम का उत्पाद हैं और दोनों ही वस्तुकृत अमूर्त मानव श्रम हैं; दूसरा एक माल की एक इकाई के बदले में दूसरे माल की कितनी मात्रा मिलेगी, यह बताता है कि विनिमय किस अनुपात में होगा। यह परिमाण का प्रश्न है। **इसलिए जब हम कहते हैं कि एक माल का मूल्य 10 घण्टा है, और दूसरे का 20 घण्टा और दूसरे माल की एक इकाई के बदले में पहले माल की दो इकाइयां विनिमय होंगी, तो हम यहां मूल्य के परिमाणात्मक पहलू की बात कर रहे हैं, जोकि सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल से निर्धारित होता है।**

सुखविन्दर स्पष्ट रूप में श्रमकाल को मूल्य का सारतत्व (substance) समझ बैठे हैं, जो कि मार्क्स की अवधारणा से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं रखता है। साथ ही यह सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल है, जो कि मूल्य की माप होता है, न कि बस श्रमकाल, जिसका अर्थ वैयक्तिक श्रमकाल भी निकलता है।

दूसरी बात, यदि मूल्य को मुद्रा में नापते हैं, तो उसे ही कीमत कहना अपने आप में एक पूरी और सटीक बात नहीं है। एक बार फिर से सुखविंदर ने मार्क्सवादी अर्थशास्त्र की अपनी समझदारी की कमी को प्रदर्शित किया है। मुद्रा में अभिव्यक्त करने पर श्रम-मूल्य (labour-value) अपने कीमत-रूप (price-form) में अभिव्यक्त होता है, यह सही है। लेकिन जब तक हम यह मानकर चलते हैं कि मूल्य कीमत के बराबर है, तब तक ही यह कहना पूरी तरह सटीक होगा कि मूल्य के मुद्रा-रूप (money-form) को ही कीमत कहा जाता है। लेकिन जैसे ही हम मुनाफे के औसतीकरण की वास्तविक परिघटना पर आते हैं, तो हम पाते हैं कि आम तौर पर सभी मालों के मूल्य उनकी कीमतों से अलग होते हैं। यदि हम बस यह कहते हैं कि मूल्य को मुद्रा में अभिव्यक्त करने पर वह कीमत बन जाता है, तो इस अन्तर को स्पष्ट नहीं किया जा सकता है, हालांकि सर्वाधिक सामान्य स्तर पर यह बात सही है क्योंकि कुल मूल्य कुल कीमत के बराबर होता है। लेकिन यह पूर्ण और सटीक बात नहीं है क्योंकि यह मालों के मूल्य के कीमतों से अन्तर को स्पष्ट नहीं कर सकता है।

दूसरी बात, किसी माल की कीमत का श्रम-मूल्य (labour-value) से अन्तर, महज़ मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन की वजह से नहीं होता है, क्योंकि ऐसा परिवर्तन सभी मालों के मूल्य और कीमत के बीच के सम्बन्ध में एकसमान परिवर्तन करता है और इसलिए मालों का सापेक्षिक विनिमय मूल्य (exchange value) व सापेक्षिक कीमत (relative price) वही रहेगी जो कि पहले थी। मसलन, यदि 1 रुपये का मूल्य 10 घण्टे का श्रम है और यदि अन्य सभी स्थितियों के समान रहते रुपये का मूल्य घटकर 5 घण्टे हो जाए, तो सभी मालों के नॉमिनल मूल्य (nominal value) में परिवर्तन आएगा, लेकिन उनका वास्तविक मूल्य उतना ही रहेगा और सभी मालों के आपसी विनिमय अनुपात पर भी कोई फर्क नहीं पड़ेगा क्योंकि रुपये के मूल्य में परिवर्तन के कारण सभी मालों के मूल्य में बराबर परिवर्तन आएगा।

तो फिर दाम या कीमत यानी price होता क्या है? एकदम सामान्य (general) और तात्विक आदर्श रूप (elementary ideal form) में मूल्य के मौद्रिक रूप को कीमत कहा जाता है, लेकिन पूंजीवाद व्यवस्था की वास्तविक गति में ऐसा होता नहीं है। इसके लिए मार्क्स मूल्य के निर्धारण के कई स्तरों (many levels of determination of value) की बात करते हैं। पहला और सबसे तात्विक स्तर है वैयक्तिक मूल्य

(individual value) यानी किसी एक उत्पादक द्वारा किसी माल के उत्पादन पर लगा वैयक्तिक श्रमकाल; इसके बाद आता है बाज़ार मूल्य/सामाजिक मूल्य (social value या market value) जो कि किसी माल के उत्पादन के लिए आवश्यक सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल से निर्धारित होता है, जो कि 'स्थिर पूंजी + परिवर्तनशील पूंजी + बेशी मूल्य' (c+v+s) के बराबर होती है; इसके बाद आता है उत्पादन की कीमतें (prices of production) का स्तर, जो कि 'स्थिर पूंजी + परिवर्तनशील पूंजी + बेशी मूल्य' (c+v+s) ***के बराबर नहीं होती है***, बल्कि 'स्थिर पूंजी + परिवर्तनशील पूंजी + औसत मुनाफा' (c+v+average profit) के बराबर होती है; इसी को **स्वाभाविक कीमत (natural price)** भी कहा जाता है; और इसके बाद आता है सबसे अमूर्त व संश्लिष्ट स्तर यानी **बाज़ार कीमत (market price)** जो कि उत्पादन की कीमतों या स्वाभाविक कीमत पर **मांग और आपूर्ति** के प्रभाव से पैदा होती है। मार्क्स जिस चीज़ को पूंजीवादी व्यवस्था के अपने सम्पूर्ण विश्लेषण में कीमत कहते हैं, वह मूलत: बाज़ार कीमत है, जोकि स्वाभाविक कीमत के इर्द-गिर्द मण्डराता रहता है; वहीं स्वाभाविक कीमत स्वयं बाज़ार मूल्य/सामाजिक मूल्य के इर्द-गिर्द मण्डराता रहता है। **मार्क्स जब कीमत की बात करते हैं, तो वह बाज़ार कीमत या फिर स्वाभाविक कीमत की बात करते हैं, जो निश्चित तौर पर मुद्रा में अभिव्यक्त होता है, लेकिन आम तौर पर वह श्रम-मूल्य से अलग होता है। और इसलिए *सिर्फ इतना कहना* कि मूल्य को मुद्रा में अभिव्यक्त करने से वह कीमत बन जाता है, सटीक और पर्याप्त नहीं है।**

मार्क्स 'पूंजी' के पहले खण्ड में हर जगह यह मानकर चलते हैं कि दाम मूल्य के बराबर ही है, क्योंकि मुनाफे के औसतीकरण के कारण पैदा होने वाली उत्पादन की कीमतों और फिर बाज़ार कीमतों की चर्चा वह तीसरे खण्ड में ही करते हैं। यहां मार्क्स अमूर्तन के एक अलग स्तर पर हैं, जहां उनका मकसद सिर्फ यह दिखलाना है कि यह सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल है, जोकि किसी भी वस्तु के मूल्य को निर्धारित करता है। इस स्तर पर मार्क्स कहते हैं कि मूल्य का मुद्रा-रूप ही उसका कीमत-रूप है और उस स्तर पर वह सही भी है। लेकिन पहले खण्ड में, अभी वह पूंजियों के बीच होने वाली प्रतिस्पर्द्धा से पैदा होने वाले विचलनों पर विचार नहीं कर रहे हैं, क्योंकि वैसे भी सामाजिक स्तर पर ये विचलन एक-दूसरे को रद्द कर देते हैं। यहां उनका मकसद केवल वैयक्तिक पूंजी के स्तर पर यह दिखलाना है कि मूल्य और कुछ नहीं बल्कि वस्तुकृत या जम गया अमूर्त मानवीय श्रम है, जिसके परिमाण को सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल से मापा जाता है।

तीसरे खण्ड में जाकर वह बताते हैं कि आम तौर पर मूल्य कभी कीमत के बराबर नहीं मिलता, बल्कि उसके ऊपर या नीचे मिलता है, लेकिन पूरी अर्थव्यवस्था के स्तर पर कुल मूल्य हमेशा कुल कीमत के बराबर रहता है और कुल बेशी मूल्य हमेशा कुल शुद्ध मुनाफे के बराबर होता है, जोकि उद्यम के मुनाफे (profit of enterprise), लगान और ब्याज़ में विभाजित होता है। **इसलिए, अपने विश्लेषण को अमूर्तीकरण के उन्नततर स्तर पर पैदा होने वाले डिस्टर्बेंसेज़ (disturbances) से प्रभावित और ग़ैर-ज़रूरी तौर पर जटिल बनने से रोकने के लिए, पहले खण्ड में वह हर जगह यह मानकर चलते हैं कि मूल्य कीमत के बराबर है और कीमत को वह मुद्रा में बता रहे हैं। इसीलिए यह पूर्ण और सटीक बात नहीं है कि केवल मूल्य को मुद्रा में अभिव्यक्त करने से वह कीमत बन जाती है, बल्कि यह बात केवल सर्वाधिक सामान्य स्तर पर ही कही जा सकती है। यह केवल इतना दिखाता है कि मूल्य का कीमत-रूप अपने केवल अपने आपको मुद्रा-रूप में ही अभिव्यक्त कर सकता है। इसका अर्थ सिर्फ यह है कि अपने सर्वाधिक सामान्य अर्थों में मूल्य का मुद्रा-रूप ही कीमत है, लेकिन पूंजीवादी व्यवस्था की वास्तविक गतिकी में हमें मूल्य और कीमत के अन्तर को समझना पड़ता है, और मूल्य के निर्धारण के अलग-अलग स्तरों**

को समझना पड़ता है।

मूल्य कीमत में *केवल* इसलिए परिवर्तित नहीं होता क्योंकि उसे मुद्रा में अभिव्यक्त कर दिया गया, हालांकि मूल्य के मौद्रिक रूप को सर्वाधिक सामान्य अर्थ में कीमत कहते हैं। लेकिन मूल्य से कीमत के रूपान्तरण को समझना अनिवार्य है और यह समझने के साथ ही यह स्पष्ट हो जाता है कि सिर्फ इतना कहना कि मूल्य को मुद्रा में अभिव्यक्त करने पर वह कीमत बन जाता है, पूर्ण और सटीक नहीं है। मालों का श्रम-मूल्य मुनाफे के औसतीकरण की प्रक्रिया के कारण बाज़ार दाम/कीमत में तब्दील होता है। यहां हम इतना ही समझा सकते हैं। जिन पाठकों को यह बात विस्तार से समझने में दिलचस्पी है वे ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा प्रकाशित 'टेक्स्टबुक ऑफ पोलिटिकल इकॉनमी' पढ़ सकते हैं (यदि वह अभी 'पूंजी' नहीं पढ़ना चाहते)।

यह पूरी बात भी यदि मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की एकदम बुनियादी बात नहीं है, तो इसे बहुत उन्नत स्तर की कोई जटिल बात भी नहीं कहा जा सकता है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद की एक सैद्धान्तिक पत्रिका के सम्पादक से, जो कि राजनीतिक अर्थशास्त्र पर संशोधनवाद की आलोचना पेश कर रहा है, इतना जानने की उम्मीद तो कतई की जाएगी। लेकिन सुखविन्दर इन बुनियादी आवश्यक अवधारणाओं से पूर्णत: अनभिज्ञ हैं।

अतिरिक्त मूल्य और मुनाफे के रिश्ते पर सुखविन्दर की बौद्धिक दरिद्रता

इसके बाद अतिरिक्त मूल्य और मुनाफे के रिश्ते पर सुखविन्दर की समझदारी पर भी एक निगाह डाल लेते हैं क्योंकि वह भी बुनियादी मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बारे में उनकी अनभिज्ञता को प्रदर्शित करता है। सुखविन्दर कहते हैं:

> "अतिरिक्त मूल्य मुनाफ़े के बराबर होता है। जितना अतिरिक्त मूल्य होता है, उतना ही मुनाफ़ा होता है।"

यह भी ग़लत है। **अतिरिक्त मूल्य मुनाफे के बराबर नहीं होता है, बल्कि *कुल* अतिरिक्त मूल्य *कुल* मुनाफे के बराबर होता है।** सुखविन्दर एक बार फिर से दिखलाते हैं कि उन्हें मुनाफे के औसतीकरण की अवधारणा के बारे में पता ही नहीं है। हरेक कारखाने, या हरेक सेक्टर के पूंजीपति को सामान्यत: अपने कारखाने में पैदा हुआ अतिरिक्त मूल्य नहीं मिलता है। केवल उसी पूंजीपति को अपने कारखाने में पैदा हुए अतिरिक्त मूल्य के बराबर मुनाफा प्राप्त हो सकता है, जिसके अतिरिक्त मूल्य की दर मुनाफे की औसत दर के बराबर हो (याद रहे यह सब *एप्रॉक्सिमेशन* में होता है क्योंकि मुनाफे का औसतीकरण एक सतत् प्रक्रिया है, जो बाज़ार की प्रतिस्पर्द्धा में लगातार जारी रहती है)। **इसलिए आप यह कह सकते हैं कि अतिरिक्त मूल्य का कुल परिमाण (total mass of surplus value) मुनाफे के कुल परिमाण (total mass of profit) के बराबर है।**

सिर्फ यह कहना कि अतिरिक्त मूल्य मुनाफे के बराबर होता है, न केवल भ्रामक है बल्कि ग़लत है। 'पूंजी' के तीसरे खण्ड के पहली तिहाई में ही मार्क्स इस बात को विस्तार से समझाते हैं और इस बात को सोवियत टेक्स्टबुक ऑन पोलिटिकल इकॉनमी में भी विस्तार से समझाया गया है, जिसके बारे में सुखविन्दर का दावा है कि वह उन्होंने सन 2000 में ही पढ़ ली थी! ज़ाहिर है कि या तो सुखविन्दर ने यह किताब वास्तव में पूरी पढ़ी नहीं, या उनके समझ में नहीं आई और या फिर उन्हें लघुकालिक स्मृतिभंग की गम्भीर समस्या है!

अतिरिक्त मूल्य की दर बढ़ाने के तरीके के बारे में सुखविन्दर का "सिद्धान्त-प्रतिपादन"

अतिरिक्त मूल्य की दर किस प्रकार बढ़ाई जाती है, यह मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का एक अहम मसला है। मार्क्स बताते हैं कि उन्नत पूंजीवाद के दौर में सापेक्षिक अतिरिक्त मूल्य प्रमुख प्रवृत्ति बन जाता है। यह एक बुनियादी अवधारणा है। लेकिन सुखविन्दर को इसके बारे में कतई कोई समझदारी नहीं है। वह कहते हैं:

> "फिर क्या करते हैं, यह जो समय होता है न...नई तकनीक लाकर वे इसे तेज़ कर देते हैं। वे 10 घंटे में उससे अधिक काम ले लेते हैं। अब क्या हो गया, यह 4 घंटे हो गया और यह 6 घंटे हो गया। टेक्नोलॉजी तेज़ हो गई, मज़दूर ज़्यादा उत्पादन करेगा। वह 4 घंटे में अपनी मज़दूरी पैदा कर लेता है। अब वह इसे 3 घंटे करके उसे 7 घंटे कर देगा। ठीक? यानी, मालिक क्या है...मालिकों में प्रतिस्पर्धा है, नई टेक्नोलॉजी पर खर्च करते हैं। नई टेक्नोलॉजी यानी पहले से महंगी मशीनरी आएगी तो स्थिर पूँजी पर खर्च बढ़ रहा है। C और V की जो जुट-बनतर (organic composition) है, यह ऊंची हो रही है। अब हमने बात की है कि 100 रुपये स्थिर पूँजी है, 50 रुपये परिवर्तनशील पूँजी है, 50 रुपये है अतिरिक्त मूल्य। तो लूट की दर क्या हुई? मज़दूर को मालिक ने कितना लूटा? वह होती है C/V। (50/50)*100, यानी 100 फ़ीसदी लूटा। ठीक? यानी, मज़दूर ने 100 रुपये पैदा किए, उसे 50 दिए और 50 रख लिए, 100 फ़ीसदी लूट हो गई न? गणित इतना तो हमें आता ही है न, 6ठी-7वीं वाला? अब मुनाफ़े की दर क्या होती है? मुनाफ़े की दर कुल पर निकाली जाती है। मुनाफ़े की दर...मालिक लागत देखता है...जो बुर्जुआज़ी है, बुर्जुआ सिद्धान्त है, उनका अर्थशास्त्र है, वह अतिरिक्त मूल्य की बात नहीं करता है कहीं भी। वह मुनाफ़े की दर की बात करता है। मुनाफ़े की दर कैसे निकाली जाती है? C over नहीं सॉरी...S/C+V, यह कितना हो गया? 50/150, यह 33 फ़ीसदी हो जाएगा। यह है मुनाफ़े की दर। अब यदि यह स्थिर पूँजी और बढ़ती रहे बढ़ती रहे तो मुनाफ़े की दर तो कम होती रहेगी न? अगर यह 100 की जगह 120 हो जाए, यह [V] उतनी ही रहे, तो नीचे आएगी न? मुनाफ़े की दर गिरती जाती है।"

पहली बात तो यह है कि किसी भी कारखाने में जब पूंजीपति उन्नत तकनोलॉजी लाता है, तो उससे आवश्यक श्रमकाल नहीं घटता है और न ही अतिरिक्त मूल्य की दर बढ़ती है। यह केवल तब होता है जब कि मज़दूरी के भौतिक तत्वों को पैदा करने वाले उद्योगों (wage goods industries) में तकनोलॉजी उन्नत होती है। क्योंकि फिर उत्पादकता बढ़ने के कारण उन उद्योगों में माल का मूल्य और कीमत दोनों ही गिर जाते हैं और मज़दूर की श्रमशक्ति का मूल्य व उसकी कीमत (यानी मज़दूरी) दोनों घट जाते हैं। याद रखें, इसका यह अर्थ नहीं होता है कि मज़दूर की श्रमशक्ति का मूल्य व कीमत कम होने के कारण उसका उपभोग अनिवार्यत: घटता है। दरअसल, यह बढ़ भी सकता है। इसका सिर्फ इतना अर्थ है कि अब कुल उत्पादित मूल्य में मुनाफे का अनुपात मज़दूरी के अनुपात से सापेक्षिक रूप से बढ़ जायेगा। इसी को मार्क्स ने मज़दूर वर्ग का सापेक्षिक दरिद्रीकरण (relative impoverishment) कहा था, जिसके बारे में सुखविन्दर के बहके-बहके विचारों पर हम आगे चर्चा करेंगे क्योंकि उन्हें यह भी नहीं पता है कि सापेक्षिक दरिद्रीकरण की अवधारणा क्या है।

इसलिए श्रमशक्ति का मूल्य तभी घटेगा और नतीजतन आवश्यक श्रमकाल (necessary labour time)

भी तभी घटेगा और फलस्वरूप अतिरिक्त श्रमकाल (surplus labour time) भी तभी सापेक्षिक रूप से बढ़ेगा जब उन उद्योगों में उन्नततर तकनोलॉजी की वजह से उत्पादकता बढ़े, जो उद्योग श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन हेतु अनिवार्य भौतिक तत्व पैदा करते हैं, यानी कि wage goods industries।

यह भी मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का इमला है, जो कि सुखविन्दर ने नहीं पढ़ा है। फिर यदि अन्य कारखानों या सेक्टरों में उत्पादकता नई तकनोलॉजी के बढ़ने से बढ़ जाती है, तो क्या होता है? आइये देखते हैं।

यदि एक कारखाने या wage goods industries को छोड़कर, किन्हीं भी अन्य उद्योगों में तकनोलॉजी उन्नत होती है, तो अन्य स्थितियों के समान रहते, मज़दूर कुल मूल्य उतना ही पैदा करते हैं और उस मूल्य का बंटवारा भी मुनाफे और मज़दूरी के बीच उसी रूप में होता है जिस रूप में पहले हो रहा था, लेकिन अब वे उपयोग मूल्यों का अधिक बड़े पैमाने पर उत्पादन करते हैं। यानी, कुल मूल्य उतना ही पैदा होगा और उसका मज़दूरी और मुनाफे में बंटवारा भी उसी अनुपात होगा क्योंकि श्रमशक्ति के मूल्य में कोई अन्तर नहीं आया है, लेकिन अब वही मूल्य अधिक मालों (उपयोग मूल्यों) के बीच वितरित होगा (distributed over a larger mass of use-values), यानी प्रति माल मूल्य और कीमत घट जायेगी।

इसका क्या फायदा होता है? यह पूंजीपति को बाज़ार में अधिक प्रतिस्पर्द्धी बना देता है। लेकिन सुखविन्दर को यह भी नहीं पता कि किसी भी एक या कुछ कारखानेदारों द्वारा उन्नत तकनोलॉजी लाने से उस कारखाने के मज़दूर की श्रमशक्ति का मूल्य व वास्तविक मज़दूरी नहीं घटती है। यह केवल *वेज गुड्स* पैदा करने वाले समूचे उद्योग में उत्पादकता की वृद्धि से ही सम्भव होता है। अलग-अलग अन्य उद्योगों में तकनोलॉजी के उन्नत होने और उत्पादकता के बढ़ने से मालों का परिमाण और उनकी प्रति ईकाई मूल्य व कीमत घटती है, लेकिन कुल मूल्य उतना ही उत्पादित होता है।

मुनाफे की औसत दर के गिरने के रुझान के बारे में सुखविन्दर के वहम

इसके अलावा, सुखविन्दर ने मुनाफे के दर में गिरने के *रुझान* के बारे में भी अपनी नाजानकारी को यहां ज़ाहिर कर दिया है। उनके अनुसार, अगर स्थिर पूंजी बढ़ती रहे और परिवर्तनशील पूंजी न बढ़े, तो मुनाफे की दर कम होती रहेगी। **ग़लत! ऐसा केवल तब होगा जबकि अतिरिक्त मूल्य की दर पूंजी के आवयविक संघटन (यानी स्थिर पूंजी व परिवर्तनशील पूंजी के अनुपात) से कम रफ्तार से बढ़ रही हो। यानी, यदि अतिरिक्त मूल्य की दर (जो कि आवश्यक श्रमकाल के कम होने के कारण बढ़ती है, जबकि आवश्यक श्रमकाल *वेज गुड्स* उद्योगों में उत्पादकता के बढ़ने के कारण कम होता है) पूंजी के आवयविक संघटन से तेज़ रफ्तार से बढ़ेगी, तो स्थिर पूंजी के परिवर्तनशील पूंजी के मुकाबले तेज़ बढ़ने या परिवर्तनशील पूंजी के न बढ़ने और स्थिर पूंजी के बढ़ने के बावजूद मुनाफे की दर बढ़ेगी।**

यह ज़रूर है कि अतिरिक्त मूल्य की दर को बढ़ाने की एक भौतिक सीमा होती है। पर यह अलग मसला है। यदि सारा का सारा श्रमकाल अतिरिक्त श्रमकाल बन जाए (जैसा कि सम्भव नहीं है!), यानी यदि मज़दूर मार्क्स के शब्दों में "हवा खाकर जिन्दा रहने लगें!", या, यदि उत्पादन की प्रक्रिया में जीवित मानव श्रम का योगदान शून्य या

नगण्य हो जाए (जिस सूरत में बेशी मूल्य भी शून्य हो जाएगा), तो भी स्थिर पूंजी तो बढ़ती ही रहेगी क्योंकि बेहतर तकनोलॉजी से उत्पादकता बढ़ाकर प्रति इकाई लागत व मूल्य कम करने की प्रतिस्पर्द्धा पूंजीपतियों के बीच फिर भी जारी रहेगी।

इसलिए जब अतिरिक्त मूल्य की दर किसी दिये हुए चरण में अपने अधिकतम तक पहुंच जाएगी (उत्पादकता के हर चरण में अतिरिक्त मूल्य की एक उच्चतम सीमा होती है, यह मार्क्स के समय से ही हम जानते हैं), तो मुनाफे की दर अनिवार्यत: गिरेगी। लेकिन जब *वेज गुड्स* उद्योगों में उत्पादकता में किसी लम्बी छलांग के कारण फिर से अतिरिक्त मूल्य की दर पूंजी के आवयविक संघटन से तेज़ी से बढ़ेगी, तो एक बार फिर अतिरिक्त मूल्य की बढ़ती दर स्थिर पूंजी में परिवर्तनशील पूंजी से तेज़ बढ़ोत्तरी के बावजूद मुनाफे की दर को गिरने से रोक देगी, या उसे बढ़ा भी सकती है।

इसीलिए मुनाफे की औसत दर एक सीधी रेखा में नहीं गिरती है, बल्कि एक लम्बे दौर में एक प्रवृत्ति के तौर पर गिरती है, यानी एक लम्बी टेढ़ी-मेढ़ी रेखा के रूप में। लेकिन सुखविन्दर इस बात को नहीं समझ पाते हैं और कहते हैं कि स्थिर पूंजी के बढ़ने और परिवर्तनशील पूंजी के न बढ़ने (हालांकि, मन्दी के दौर को छोड़ दें, तो निरपेक्ष रूप में परिवर्तनशील पूंजी भी अक्सर बढ़ती है, हालांकि स्थिर पूंजी की रफ्तार से नहीं) के कारण मुनाफे की दर गिरेगी। लेकिन हम देख चुके हैं कि ऐसा एक निश्चित परिस्थिति में होगा, अनिवार्यत: नहीं।

अगर हम अतिरिक्त मूल्य की दर को स्थिर माने और पूंजी के आवयविक संघटन को बढ़ाते रहें, तब हम मुनाफे के दर के गिरने के *प्रवृति के नियम* की बात नहीं कर रहे है, बल्कि अपने आप में मुनाफे के दर के *गिरने के* नियम की बात कर रहे हैं, जो कि पूंजीवादी समाज में काम नहीं करता है। यह एक प्रवृत्तिगत नियम (tendential law) है। मुख्यतः दो प्रतिवादी कारणों (countervailing factors) की वजह से यह निरपेक्ष नियम नहीं बनता बल्कि प्रवृत्तिगत नियम में तब्दील हो जाता है: *अतिरिक्त मूल्य की दर के आवयविक संघटन से तेज़ी से बढ़ने से, जिस पर हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं, और उत्पादकता के बढ़ने के साथ उत्पादन के साधनों के प्रति इकाई मूल्य घटने की वजह से।* इसकी वजह से पूंजी का तकनीकी संघटन (technical composition of capital) में वृद्धि होती है, यानी अधिक उन्नत नई मशीनें आती हैं, लेकिन चूंकि वे सस्ती हो चुकी हैं, लेकिन इसलिए यह पूंजी के मूल्य संघटन (value composition of capital) में प्रतिबिम्बित नहीं होता है। यहां भी सुखविन्दर एक ग़लत बात करते हैं कि नयी तकनोलॉजी पुरानी तकनोलॉजी से महंगी होती है जबकि मार्क्स बताते हैं कि आम तौर पर किसी भी विचारणीय दौर में हर नयी तकनोलॉजी पुरानी से सस्ती होती जाती है, नतीजतन, मशीनों की प्रति इकाई कीमत कम होती जाती है; लेकिन चूंकि विस्तारित पुनरुत्पादन होता है, तो मशीनों की नयी व्यवस्था (new systems of machines) आम तौर पर मशीनों की पुरानी व्यवस्था (old systems of machines) से महंगी होती है। यही वजह है कि मशीनों की प्रति इकाई घटती कीमत के बावजूद मुनाफे की औसत दर लम्बी दूरी में गिरती ही है।

इस प्रकार दोनों प्रतिवादी कारण (countervailing factors) इस नियम को खारिज नहीं कर सकते बल्कि इसे एक प्रवृत्ति में तब्दील कर सकते हैं। क्योंकि पूंजी के आवयविक संघटन में वृद्धि होती रहती है। और हालांकि प्रति मशीन कीमत में गिरावट आती है, लेकिन विस्तारित पुनरुत्पादन की स्थितियों में आम तौर पर और लम्बे समय में

नए मशीनरी का सिस्टम पुराने से महँगा होता है। साथ ही, अतिरिक्त मूल्य की दर में होने वाली बढ़ोत्तरी केवल अस्थायी तौर पर ही मुनाफे की औसत दर में आने वाली गिरावट को प्रतिसन्तुलित कर पाती है, क्योंकि उसकी एक भौतिक सीमा होती है। ज़ाहिर है कि सुखविन्दर की इस विषय में समझदारी बेहद दरिद्र और भ्रमों से भरी हुई है। वह सोवियत टेक्स्टबुक उन्होंने ठीक से पढ़ी नहीं, फिर से पढ़ लेनी चाहिए।

थोड़ा आगे ही सुखविन्दर इसे बिल्कुल ही स्पष्ट कर देते हैं कि मार्क्स के मुनाफे की औसत दर में गिरने की प्रवृत्ति के नियम को लेकर बुरी तरह से भ्रमित हैं। वह कहते हैं:

> "इसे मार्क्स ने कहा था - मुनाफ़े की दर गिरने का नियम ... *[रुझान - दर्शकों में से किसी की आवाज़]* ... नहीं नियम ही लिखा है उन्होंने। हाँ, रुझान का नियम। ठीक है? यानी मुनाफ़े की दर गिरती जाती है। लेकिन, यह नियम नहीं है। गिरती है, पर इसके विरोध में भी कई चीज़ें हैं, जो इसे नियम बनने नहीं देती हैं।"

पहले तो सुखविन्दर इसी को लेकर भ्रमित हो गये हैं कि यह निरपेक्ष नियम है या प्रवृत्तिगत नियम। बाद में दर्शकों में से किसी के टोकने पर उन्होंने अपने आप को ठीक किया। पहले वह कहते हैं कि मार्क्स ने इसे सिर्फ नियम लिखा है, फिर अपने आपको ठीक करते हुए बोलते हैं कि हां, रुझान का नियम है। फिर अन्त में कहते हैं कि यह नियम नहीं बन पाता है क्योंकि कई विरोधी कारक भी हैं। सच क्या है? **यह नियम ही है, लेकिन निरपेक्ष नियम नहीं बल्कि प्रवृत्तिगत नियम (tendential law)। सुखविन्दर भ्रमित हैं कि यह नियम है या नहीं।** आगे सुखविन्दर कहते हैं:

> "यह वैसे नहीं है कि कोई चीज़ ऊपर उछाली तो नीचे गिरेगी। जैसे मान लो...मार्क्स ने कई इसके न विपरीत लिखे हैं। कि यह एक रुझान कैसे बनता है, नियम नहीं रहता है रुझान बन जाता है। 'विरोधी प्रभाव' ... सरप्लस वैल्यू भी बढ़ेगी न, ये चार-पाँच बताए हैं उसने। 'मज़दूरी का श्रम शक्ति के मूल्य से नीचे गिरना', मतलब जितना मज़दूर खाता है, उससे भी नीचे गिरना, अगर मेरा 50 रुपये से गुजारा होता है तो मेरी मज़दूरी 40 कर दो। कि कम खाऊं, अपनी किसी चीज़ पर ... बिजली बंद कर दूं, है न? अपनी ज़रूरतें कम कर दूं। 'अस्थिर पूँजी के अंशों का सस्ता होना', टेक्नोलॉजी सस्ती हो जाए। चलो, यह आपको समझने में थोड़ा कठिन लगेगा, मेरे कहने का मतलब...मार्क्स ने ये बात कही है।"

पहली बात तो यह कि मार्क्स ने 4-5 विरोधी कारक (countervailing factors) नहीं बताए हैं। **मार्क्स के अनुसार मूलत: दो ही ढांचागत विरोधी कारक हैं: अतिरिक्त मूल्य की दर का पूंजी के आवयविक संघटन से तेज़ी से बढ़ना और स्थिर पूंजी के तत्वों का सस्ता होना। यहां भी विरोधी कारक के तौर पर सुखविन्दर अतिरिक्त मूल्य के बढ़ने की बात करते हैं, न कि उसकी दर के बढ़ने की बात, जो कि सुखविन्दर की मूर्खता को अनावृत्त कर देता है।**

इसके अलावा, मज़दूरी का श्रमशक्ति के मूल्य से नीचे गिरना एक सामान्य विरोधी कारक नहीं है, जो पूंजीवादी व्यवस्था की सहज गति में हमेशा मौजूद रहता है। वास्तव में, मज़दूरी का श्रमशक्ति के मूल्य से नीचे गिरना या न

गिरना पूंजी संचय की गति पर निर्भर करता है। अधिक तेज़ी के दौर में यानी विस्तारित पुनरुत्पादन के बड़े पैमाने पर जारी रहने और नये निवेशों की उच्च दर के दौर में मज़दूरी श्रमशक्ति के मूल्य से ऊपर भी जा सकती है और पूंजीपति भी इसे देने को तैयार रहते हैं, क्योंकि मुनाफे की दर अधिक होती है और श्रम की मांग अधिक होती है। और मन्दी के दौर में भी पूंजीपति वर्ग हमेशा इस स्थिति में नहीं हो सकता कि वह मज़दूरी को श्रमशक्ति के मूल्य से नीचे गिराए, क्योंकि मज़दूरों का संगठित प्रतिरोध या उसकी सम्भावना इसके एक प्रतिभार (counter-weight) का काम करती है। और आखिरी बात, मज़दूरी को श्रमशक्ति के मूल्य से नीचे गिराने की एक भौतिक सीमा होती है, जैसा कि मार्क्स ने बताया है। मार्क्स के अनुसार पूंजीपति वर्ग के लिए भी यह ज़रूरी होता है कि मज़दूर वर्ग अपने आपको बेशी मूल्य का उत्पादन व पुनरुत्पादन करते रह सकने के लिए भौतिक रूप से पुनरुत्पादित कर सके और इसलिए मज़दूरी को अपवादस्वरूप कालों के अलावा श्रमशक्ति के मूल्य से नीचे गिराना पूंजीपति वर्ग के लिए सम्भव नहीं होता। इसीलिए मुनाफे की दर के नीचे गिरने के विरोधी कारकों में यह कोई ढांचागत कारक नहीं है। दो मूल ढांचागत कारक वहीं हैं, जिनका हमने ऊपर जिक्र किया है।

आगे बढ़ते हैं।

नई तकनोलॉजी और रोज़गार के रिश्ते के बारे में सुखविन्दर के मूर्खतापूर्ण विचार

सुखविन्दर अपने व्याख्यान में बार-बार यह दावा करते हैं कि मार्क्स के अनुसार नई तकनोलॉजी आने और मशीनीकरण से रोज़गार बढ़ता है। पहले उनके मुंह से ही सुन लेते हैं कि वह क्या कहते हैं:

> "बेरोज़गारी क्या होती है? क्या आपने कोई ऐसा व्यक्ति देखा है जो सारी उम्र ही बेरोज़गार रहा हो? मिला है कभी, मुझे तो नहीं मिला। अब जो मज़दूर हैं, जब एक कारखाने में 100 मज़दूर हैं। नई मशीनरी आ गई, उसने 25-30 लोग निकाल दिए। अब इन 25-30 लोगों ने किसी और डिपार्टमेंट में एडजस्ट होना है। यहाँ से निकलकर इसमें एडजस्ट होने के बीच का समय बेरोज़गारी होती है। और, यह हमेशा ही रहती है। मार्क्स कहते हैं कि जब मशीन आती है न, तो तेज़ी से काम होता है। जहाँ से कच्चा माल आता है, वहाँ पर मांग बढ़ जाती है, वहाँ मज़दूरों की संख्या बढ़ जाती है। मार्क्स कहते हैं कि जो पूँजी का चलन है, वह द्वन्द्वात्मक है। एक तरफ़ मज़दूरों को अपकर्षित करती है, दूसरी तरफ़ आकर्षित करती है। पर, overall कुल मज़दूर जो है, absolute terms में, निरपेक्ष terms में बढ़ जाता है।"

इसी प्रकार सुखविन्दर आगे कहते हैं:

> "स्थिर पूँजी पर खर्च लगातार बढ़ने से बेरोज़गारी नहीं बढ़ती है, जैसा कि जगरूप कहता है। वह तो रोज़गार बढ़ाता है। एक सेक्टर में वह कम करता है, कुल समाज में बढ़ाता है।"

और देखें:

> "जहाँ टेक्नोलोजी उन्नत होती है, वहाँ बेरोज़गारी कम होती है, जहाँ टेक्नोलोजी पिछड़ी होती है, वहाँ बेरोज़गारी ज़्यादा होती है।"

और भी:

> "अब जैसे, अमरीका, जर्मनी वगैरह का आप...जर्मनी बहुत विकसित है, बहुत उन्नत टेक्नोलोजी है वहाँ पर, वहाँ आप बेरोज़गारी का आंकड़ा देखिये। बामुश्किल 3 या 4 फ़ीसदी है, इस समय। इंडिया में बहुत ज़्यादा है। मतलब टेक्नोलोजी, यह बहुत बड़ा भ्रम है। एक तो theoretically गलत बात है कि टेक्नोलोजी बेरोज़गारी पैदा करती है।"

अन्त में सुखविन्दर कहते हैं:

> "तीसरी बात, यह बहुत हैरानीजनक बात लगेगी आपको जो मैं कहने जा रहा हूँ। जहाँ टेक्नोलोजी उन्नत होती है, वहाँ बेरोज़गारी कम होती है, जहाँ टेक्नोलोजी पिछड़ी होती है, वहाँ बेरोज़गारी ज़्यादा होती है।"

इसी प्रकार की बातें सुखविन्दर और भी जगहों पर कहते हैं कि मशीनीकरण व उन्नत तकनोलॉजी से बेरोज़गारी घटती है और रोज़गार बढ़ता है।

यह भयंकर मूर्खतापूर्ण बात है। मार्क्स 'पूंजी' के तीनों ही खण्डों में बेरोज़गारी और तकनोलॉजी व मशीनीकरण के बीच कोई सीधा कारणात्मक सम्बन्ध कायम नहीं करते हैं। अपने आप में मशीनीकरण मज़दूरों को काम से बाहर करता है। लेकिन इसके साथ वह कुल समाज में बेरोज़गारी को बढ़ाता है या घटाता है, यह एक दूसरे कारक पर निर्भर करता है। वह कारक है पूंजी संचय की गति। यदि पूंजी संचय तेज़ रफ्तार से हो रहा है, यानी बेशी मूल्य के बड़े हिस्से को पूंजी में तब्दील किया जा रहा है और विस्तारित पुनरुत्पादन की दर तेज़ है, तो मशीनीकरण के बावजूद रोज़गार बढ़ सकता है। यदि मशीनीकरण होता है, तो मार्क्स के शब्दों में स्थिर पूंजी की प्रत्येक इकाई पहले से कम मज़दूरों के रोज़गार के लिए जिम्मेदार होती है। लेकिन अगर पूरे समाज में कुल पूंजी की मात्रा में वृद्धि हो रही है, तो मशीनीकरण के कारण एक सेक्टर से निकाले गये मज़दूर दूसरे सेक्टर में रोज़गार पा सकते हैं। लेकिन यदि पूरे समाज में पूंजी संचय व विस्तारित पुनरुत्पादन की रफ्तार मशीनीकरण की दर से कम है, तो मशीनीकरण निरपेक्ष रूप में रोज़गार को घटाता है।

यानी सुखविन्दर का यह मानना कि तकनोलॉजी व मशीनीकरण रोज़गार को बढ़ाता है, व बेरोज़गारी को कम करता है, एक मूर्खतापूर्ण बात है। ऐसी कोई बात मार्क्स ने कहीं नहीं कही है।

मार्क्स यह बताते हैं कि रोज़गार पैदा होने व बेरोज़गारी कम होने का कारणात्मक सम्बन्ध मूलत: पूंजी संचय की गति (movements of capital accumulation) से है। मशीनीकरण अपने आप में सापेक्षत: मज़दूरों की संख्या प्रति ईकाई स्थिर पूंजी, या यदि हम मूल्य अर्थों (value terms) में बात न करके तकनोलॉजिकल कम्पोजीशन के अर्थ में बात करें, तो प्रति इकाई मशीन कम होती है। लेकिन यदि समाज में कुल मिलाकर मशीनों की संख्या इतनी बढ़ती है (पूंजी संचय की तेज़ रफ्तार के कारण) कि वह मशीनीकरण के कारण निकाले गये मज़दूरों की तादाद को सोख सकती है, तो हम कह सकते हैं कि कुल मिलाकर निरपेक्ष अर्थों में रोज़गार बढ़ा।

वास्तव में मार्क्स ने इस सिद्धान्त का 'पूंजी' में पुरज़ोर विरोध किया है कि पूंजीवाद में मशीनीकरण रोज़गार को बढ़ाता है। 'पूंजी' के पहले खण्ड में 'पूंजी संचय का आम नियम' में मार्क्स ने साफ़ तौर पर बताया है कि यह वास्तव

में पूंजी संचय की दर है, जिस पर रोज़गार पैदा होने या नष्ट होने की गति निर्भर करती है। दूसरे शब्दों में पूंजी का बढ़ता आवयविक संघटन (organic composition) अपने आप में रोज़गार को कम करता है, लेकिन तेज़ी के दौर में पूंजी संचय व विस्तारित पुनरुत्पादन की उच्च दर रोज़गार को आवयविक संघटन के बढ़ने के बावजूद निरपेक्ष रूप से बढ़ा भी सकती है। लेकिन ठहराव (stagnation) व मन्दी (crisis) के दौर में मशीनीकरण और पूंजी का बढ़ता आवयविक संघटन रोज़गार को निरपेक्ष रूप में घटाता है। सापेक्षिक तौर पर, मशीनीकरण रोज़गार को घटाता ही है, यानी प्रति इकाई रोज़गार पर लगे मज़दूरों की संख्या को यह हमेशा कम ही करता है।

'पूंजी' के पहले खण्ड (पेंगुइन संस्करण) के पृष्ठ 792-794 को पाठक अवश्य पढ़ें। यहां मार्क्स ठीक उसी तर्क का खण्डन कर रहे हैं, जो कि सुखविन्दर ने अपने व्याख्यान में दिया है। पूंजीवाद के पक्ष में तर्कपोषण करने वाले राजनीतिक अर्थशास्त्रियों का तर्क था कि मशीनीकरण हर सूरत में रोज़गार को बढ़ाता है और जितने मज़दूर "पूंजी द्वारा मुक्त किये जाते हैं", यानी जितने मज़दूर मशीनीकरण द्वारा निकाले जाते हैं, उससे ज्यादा मज़दूर "पूंजी द्वारा सोख लिए जाते हैं", और इसलिए मशीनीकरण हर सूरत में रोज़गार को बढ़ाकर मज़दूर वर्ग के लिए भी खुशहाली लाता है, क्योंकि श्रम की मांग के बढ़ने के कारण मज़दूरी भी बढ़ती है। मार्क्स कहते हैं कि यह पूरा तर्क इसलिए बकवास है कि क्योंकि हमेशा मशीनीकरण के द्वारा जितनी "पूंजी मुक्त होती है" उससे ज्यादा "मज़दूर मुक्त होते हैं" क्योंकि जो पूंजी मुक्त होती है, उसका आवयविक संघटन पहले से ही ज्यादा है और वह जितने मज़दूर निकाले जाते हैं, उनको वापस काम पर रखने की क्षमता नहीं रखती है और जब भी विस्तारित पुनरुत्पादन इतना अधिक होता है कि श्रम की मांग इस सीमा का अतिक्रमण करती है तो वह रोज़गारशुदा मज़दूरों के कार्यदिवस व श्रम की सघनता को बढ़ाकर श्रम की इस मांग को स्वीकार्य सीमा में रखते हैं और रिज़र्व इण्डस्ट्रियल आर्मी के सापेक्षिक आकार को बढ़ाते हैं। यानी मशीनीकरण के कारण पूंजीपति परिवर्तनशील पूंजी को कम करता है और वह पूंजी मुक्त होती है, लेकिन इसके कारण जितने मज़दूर रोज़गार खोते हैं, उन सभी को रोज़गार मिले यह अनिवार्य नहीं है और यह केवल अपवादस्वरूप ही होता है। यही कारण है कि मार्क्स के अनुसार, जब रोज़गारशुदा मज़दूरों की संख्या निरपेक्ष रूप से भी बढ़ती है, तो बेरोज़गार मज़दूरों की संख्या उससे ज्यादा तेज़ रफ्तार से बढ़ती है। मार्क्स के शब्दों में "श्रम की आरक्षित सेना" (reserve army of labour) का सापेक्षिक वज़न "श्रम की सक्रिय सेना" (active army of labour) की अपेक्षा ऐतिहासिक तौर पर बढ़ता है। ऐसा तब भी होता है जबकि रोज़गारशुदा मज़दूरों की संख्या निरपेक्ष रूप से बढ़ती है। इसलिए जब सुखविन्दर यह कहते हैं कि मशीनीकरण से जितने मज़दूर निकाले जाते हैं, वे काम की रफ्तार तेज़ होने के कारण कच्चे माल आदि का उत्पादन करने वाले उद्योगों में सोख लिए जाते हैं, तो वह इस बात पर विचार ही नहीं करते कि कच्चे मालों का उत्पादन करने वाले उद्योगों में भी पूंजी का आवयविक संघटन बढ़ता रहता है, मशीनीकरण होता रहता है और वहां से भी मज़दूर "मुक्त होते रहते हैं" और इसलिए ये उद्योग कभी भी बेरोज़गार हुए समस्त मज़दूरों को नहीं सोख सकते हैं। कुल मिलाकर पूंजीवादी व्यवस्था में विस्तारित पुनरुत्पादन के साथ निरपेक्ष रूप में रोज़गारशुदा मज़दूरों की संख्या बढ़ती है, लेकिन चूंकि पूंजी द्वारा सतत् अपकर्षित हो रहे समस्त मज़दूर वापस अनिवार्यत: रोज़गार नहीं पाते हैं, इसलिए बेरोज़गारों की सेना आम तौर पर उससे भी तेज़ गति से बढ़ती है।

देखें मार्क्स इसके बारे में क्या कहते हैं:

"Taking them as a whole, the general movements of wages are exclusively regulated by the expansion and contraction of the industrial reserve army, ***and this in turn corresponds to the periodic alternations of the industrial cycle."*** (Marx, 'Capital', Volume I, Penguin Edition, p. 790, *emphasis ours*)

आगे देखें मार्क्स क्या कहते हैं:

"This is the place to return to one of the great exploits of economic apologetics. It will be remembered that if through the introduction of new machinery, or the extension of old, a portion of variable capital is transformed into constant capital, **the economic apologist interprets this operation, which 'fixes' capital and by that very act 'sets free' workers, in exactly the opposite way, pretending that capital is thereby set free for the workers. Only now can one evaluate the true extent of the effrontery of these apologists. Not only are the workers directly turned out by the machines set free, but so are their future replacements in the rising generation, as well as the additional contingent which, with the usual extension of business on its old basis, would regularly be absorbed. They are now all ' set free' and every new bit of capital looking round for a function can take advantage of them. Whether it attracts them or others, the effect on the general demand for labour will be nil, if this capital is just sufficient to take out of the market as many workers as the machines threw into it. If it employs a smaller number, the number of 'redundant workers' increases; if it employs a greater, the general demand for labour increases only to the extent of the excess of the employed over those 'set free'. The impulse that additional capital seeking an outlet would otherwise have given to the general demand for labour is therefore in every case neutralized until the supply of workers thrown out of employment by the machine has been exhausted. That is to say, the mechanism of capitalist production takes care that the absolute increase of capital is not accompanied by a corresponding rise in the general demand for labour. And the apologist calls this a compensation for the misery, the sufferings, the possible death of the displaced workers during the transitional period when they are banished into the industrial reserve army! <u>The demand for</u>**

> **labour is not identical with increase of capital, nor is supply of labour identical with increase of the working class. It is not a case of two independent forces working on each other.** *Les des sont pipes*. (The dice are loaded)." (*ibid,* p. 792-93, *emphasis ours*)

यहां मार्क्स उन बुर्जुआ राजनीतिक अर्थशास्त्रियों की आलोचना पेश कर रहे हैं, जो कि सुखविन्दर के समान दावा करते थे कि मशीनीकरण से बेरोज़गारी कम होती है और रोज़गार बढ़ता है। सुखविन्दर जो तर्क दे रहे हैं वह पूंजीवाद का पक्षपोषण बन जाता है। यह "अधिक निवेश यानी अधिक रोज़गार" के उसी तर्क की ओर ले जायेगा जो कि 1991 में नई आर्थिक नीतियों की शुरुआत करते हुए नरसिम्हा राव और मनमोहन सिंह ने दिया था। यह वही नवउदारवादी तर्क है, जिसे कि मार्क्स-पूर्व बुर्जुआ राजनीतिक अर्थशास्त्रियों ने भी दिया था। जैसा कि आप देख सकते हैं कि सुखविन्दर न केवल संशोधनवाद के आर्थिक रूमानीवाद का खण्डन नहीं कर पा रहे हैं बल्कि स्वयं संशोधनवादी सुधारवाद से भी पीछे जाकर एक नवउदारवादी मूर्ख बुद्धिजीवी के समान पूंजीवाद का पक्षपोषण कर रहे हैं।

मार्क्स का मानना है कि पूंजी संचय का बढ़ना *ऐतिहासिक रूप से* प्रगतिशील है क्योंकि यह कुल मज़दूर वर्ग के आकार को बढ़ाता है, यह नये सेक्टरों, नये क्षेत्रों व नयी आबादियों को पूंजीवाद के दायरे के भीतर लाता है, प्राक्-पूंजीवादी अवशेषों को समाप्त करता है, छोटे पैमाने के माल उत्पादन को समाप्त कर उसे उन्नत पूंजीवादी उत्पादन के दायरे में लाता है, खेती के क्षेत्र के अतिरिक्त श्रम को निकालकर मज़दूरों की तादाद में शामिल करता है, जिसे हम विकिसानीकरण के नाम से जानते हैं; इन सभी कारकों के चलते बढ़ता पूंजी संचय मज़दूर वर्ग के निरपेक्ष आकार को बढ़ाता है। साथ ही, आबादी में होने वाली निरपेक्ष बढ़ोत्तरी के कारण भी मज़दूर वर्ग का निरपेक्ष आकार बढ़ता है, हालांकि उसका मूल कारण भी पूंजी की गति और उत्पादन सम्बन्धों में होता है। **इसके कारण पूंजीवाद ऐतिहासिक तौर पर मज़दूर वर्ग के आकार को बढ़ाता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि इस बढ़ते मज़दूर वर्ग में बढ़ते मशीनीकरण के साथ बेरोज़गारी कम होती जाती है। वास्तव में, यदि पूरे मज़दूर वर्ग का ही आकार बढ़ता है, तो यह बिल्कुल सम्भव है (और आम तौर पर ऐसा ही होता भी है) कि रोज़गारशुदा मज़दूरों की कुल संख्या (active army of labour) निरपेक्ष रूप से बढ़े लेकिन बेरोज़गार मज़दूरों की संख्या (reserve army of labour) भी निरपेक्ष रूप से बढ़े और कई बार रोज़गारशुदा मज़दूरों की संख्या से भी तेज़ी से बढ़े।**

यानी, यह कहना कि तकनोलॉजी व मशीनीकरण हर सूरत में रोज़गार को बढ़ाता है और बेरोज़गारी को घटाता है, सबसे निकृष्ट कोटि के बुर्जुआ अर्थशास्त्र के तर्क पर गिरने के समान है। मार्क्स मशीनीकरण से समाज में बेरोज़गारी के बढ़ने या घटने का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित नहीं करते हैं। उनके अनुसार, यह पूंजी संचय की गति और विस्तारित पुनरुत्पादन की दर पर निर्भर करता है। यह इस पर निर्भर करता है कि हम औद्योगिक चक्र (industrial cycle) के किस मुकाम पर हैं, यानी ठहराव की स्थिति है, संकट की स्थिति है, या तेज़ी की स्थिति है। मशीनीकरण हर सूरत में प्रति इकाई स्थिर पूंजी रोज़गार में लगे मज़दूरों की संख्या को घटाता ही है और आम तौर पर तेज़ी (boom) के दौर को छोड़कर यह बेरोज़गारी को भी निरपेक्ष अर्थों में बढ़ाता ही है, तब भी जब

कि वह रोज़गारशुदा मज़दूरों की संख्या में भी वृद्धि करता है।

यह सिद्ध करने के लिए कि भारत में बेरोज़गारी निरपेक्ष रूप से मशीनीकरण के कारण घटती है, सुखविन्दर कहते हैं कि आज भारत में करीब 25 करोड़ शहरी मज़दूर हैं। पहली बात तो यह है कि ये सारे मज़दूर रोज़गारशुदा नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि रोज़गारशुदा औद्योगिक मज़दूरों की संख्या में वृद्धि का कारण मशीनीकरण नहीं है, बल्कि पूंजी संचय व विस्तारित पुनरुत्पादन है। **यानी पूंजीवाद द्वारा अर्थव्यवस्था व समाज के बड़े से बड़े हिस्से को अपने मातहत लिए जाने के कारण निरपेक्ष अर्थों में औद्योगिक रोज़गार बढ़ा है, लेकिन बेरोज़गारों की संख्या में उससे भी तेज़ वृद्धि हुई है। सुखविन्दर केवल यह कहते हैं कि पिछले समय में औद्योगिक मज़दूरों की संख्या कितनी बढ़ी है, लेकिन यह नहीं बताते कि इसी समय में बेरोज़गारों की संख्या कितनी बढ़ी है।**

समाज में निरपेक्ष अर्थों में रोज़गारशुदा मज़दूरों (active army) की तुलना में बेरोज़गार मज़दूर (reserve army) का सापेक्षिक वज़न बढ़ा है या घटा है, इसी के आधार पर रोज़गार में हुई शुद्ध वृद्धि या कमी (net increase or decrease) की बात की जा सकती है। मार्क्स बताते हैं कि जैसे-जैसे पूंजीवादी उत्पादन उच्चतर धरातलों पर विकसित होता जाता है, जैसे-जैसे पूंजी संचय विकसित होता जाता है, वैसे-वैसे निरपेक्ष रूप में रोज़गारशुदा मज़दूरों की संख्या बढ़ती है, लेकिन चूंकि पूंजी का आवयविक संघटन भी बढ़ता है, नई तकनोलॉजी और मशीनें आती हैं और उत्पादकता बढ़ती जाती है, इसलिए बेरोज़गार मज़दूरों की तादाद उससे भी तेज़ी से बढ़ सकती है और अक्सर बढ़ती भी है। पूंजी संचय अपनी नैसर्गिक गति से मज़दूरों की निरपेक्ष आबादी को बढ़ाता जाता है। लेकिन इसमें रोज़गारशुदा मज़दूरों के तादाद में बढ़ोत्तरी से आम तौर पर ज्यादा तेज़ रफ्तार से बेरोज़गार मज़दूरों की तादाद बढ़ती है। देखें मार्क्स 'पूंजी' के पहले खण्ड में क्या बताते हैं:

> **"Since the demand for labour is determined not by the extent of the total capital but by its variable constituent alone, that demand falls progressively with the growth of the total capital, instead of rising in proportion to it, as was previously assumed.** It falls relatively to the magnitude of the total capital, and ***at an accelerated rate***, as this magnitude increases. With the growth of the total capital, its variable constituent, the labour incorporated in it, does admittedly increase, ***<u>but in a constantly diminishing proportion.</u>*** It is not merely that an accelerated accumulation of the total capital, accelerated in a constantly growing progression, is needed to absorb an additional number of workers, or even, on account of the constant metamorphosis of old capital, to keep employed those already performing their functions. This increasing accumulation and centralization also becomes in its turn a source of new changes in the composition of capital, or in other words of an accelerated diminution of the capital's variable component, as compared with its constant one. **This**

> **accelerated relative diminution of the variable component, which accompanies the accelerated increase of the total capital and moves more rapidly than this increase, takes the inverse form, at the other pole, of an apparently absolute increase in the working population, an increase which always moves more rapidly than that of the variable capital or the means of employment. But in fact it is capitalist accumulation itself that constantly produces, and produces indeed in direct relation with its own energy and extent, a relatively redundant working population, i.e. a population which is superfluous to capital's average requirements for its own valorization, and is therefore a surplus population."** (Marx, 'Capital' Volume-I, Penguin Edition, p. 781-82, *emphasis ours*)

इसी प्रकार आगे मार्क्स कहते हैं:

> **"The working population therefore produces both the accumulation of capital and the means by which it is itself made relatively superfluous; <u>and it does this to an extent which is always increasing. This is a law of population peculiar to the capitalist mode of production..."</u>** (*ibid,* p. 783-84, *emphasis ours*)

यानी मार्क्स स्पष्ट कहते हैं कि पूंजी संचय का यह नियम है कि इसके द्वारा जितने मज़दूर काम से निकाले जाते हैं, उतने मज़दूर नये निवेश द्वारा कभी भी काम पर लिए नहीं जाते हैं क्योंकि नयी पूंजी का आवयविक संघटन पहले से ही ज्यादा होता है और वह कभी उतने मज़दूरों को नहीं सोख पाता है जो कि मशीनीकरण की वजह से काम से निकाले जाते हैं। नतीजतन, नये निवेश के साथ कुल मज़दूर आबादी में बढ़ोत्तरी होती है, कुल रोज़गारशुदा मज़दूर आबादी में *आम तौर पर* बढ़ोत्तरी होती है, लेकिन बेरोज़गार मज़दूर आबादी में उससे भी ज़्यादा बढ़ोत्तरी होती है। इसे समझने के लिए 'पूंजी' के पहले खण्ड के पूंजी संचय के नियम पर केन्द्रित पूरे हिस्से को अवश्य पढ़ें।

जैसा कि आप देख सकते हैं, यहां भी सुखविन्दर मार्क्सवादी तर्क पर नहीं बल्कि नवउदारवादी बुर्जुआ तर्क पर चल रहे हैं कि नयी तकनोलॉजी और मशीनीकरण बेरोज़गारी को कम करता है।

इसी प्रकार सुखविन्दर ने मार्क्स का तकनोलॉजिकल नियतत्ववादी (technological determinist) और नवउदारवादी हस्तगतीकरण कर दिया है। वह तकनोलॉजी और मशीनीकरण को बेरोज़गारी घटाने वाला कारक दिखलाने के लिए कहते हैं:

> "पश्चिमी देशों में कोई औरत ऐसी नहीं होगी जो घर पर रहती हो। नौकरी न करती हो।"

आगे वह कहते हैं:

> "अब जैसे, अमरीका, जर्मनी वगैरह का आप...जर्मनी बहुत विकसित है, बहुत उन्नत टेक्नोलोजी है वहाँ पर, वहाँ आप बेरोज़गारी का आंकड़ा देखिये। बामुश्किल 3 या 4 फ़ीसदी है, इस समय। इंडिया में बहुत ज़्यादा है। मतलब टेक्नोलोजी, यह बहुत बड़ा भ्रम है। एक तो theoretically गलत बात है कि टेक्नोलोजी बेरोज़गारी पैदा करती है।"

और अन्त में सुखविन्दर दावा करते हैं:

> "इसलिए, मार्क्स की खुशी का स्रोत होता था कि जब भी नई टेक्नोलोजी आती थी, मार्क्स बहुत खुश होते थे।"

अपनी शिक्षाओं का ऐसा विकृतिकरण देखकर मार्क्स की आत्मा ने निश्चित ही अपनी कब्र में करवट बदली होगी! मार्क्स नई तकनोलॉजी आने की वजह से इसलिए खुश नहीं होते थे कि इससे मज़दूरों में बेरोज़गारी घटेगी। मार्क्स नई तकनोलॉजी आने पर इसलिए खुश होते थे क्योंकि यह ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील है, उत्पादन के उत्तरोत्तर समाजीकरण की ज़मीन तैयार करता है, क्योंकि नई तकनोलॉजी आते जाने के साथ उत्पादन का समाजीकरण सारी सीमाओं को तोड़ते हुए एक कारखाने से एक सेक्टर, एक सेक्टर से एक देश और फिर पूरी दुनिया में विस्तारित हो जाता है। उत्पादन का यह बढ़ता समाजीकरण समाजवाद की पूर्वशर्त तैयार करता है।

इसके अलावा, नई तकनोलॉजी उत्पादन के लिए आवश्यक श्रमकाल को घटाकर मनुष्यता को अनिवार्यता से मुक्त कर स्वतंत्रता के क्षेत्र में ले जाने की ज़मीन तैयार करती है, हालांकि पूंजीवाद के मातहत हर नई तकनोलॉजी इसका उलटा काम करती है क्योंकि वह श्रम की सघनता, अक्सर कार्यदिवस और शोषण की दर को बढ़ाती जाती है। लेकिन समाजवाद में यह मनुष्य को भौतिक वस्तुओं के उत्पादन में लगने वाले समय से मुक्त कर वैज्ञानिक, कलात्मक, सैद्धान्तिक उत्पादन के लिए अधिक से अधिक समय देती है और "काम के समय" और "खाली समय" के बीच की दीवार को गिराती है।

इसलिए नई तकनोलॉजी का आना मार्क्स के लिए इसलिए खुशी का सबब नहीं था क्योंकि वह बेरोज़गारी घटाती है, बल्कि यह था कि यह ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील है क्योंकि यह समाजवाद, यानी एक उच्चतर सामाजिक व्यवस्था की ज़मीन तैयार करती है व पूर्वशर्तें पूरी करती है। यहां सुखविन्दर ने मार्क्स को एक मोण्टेक सिंह आहलूवालिया में तब्दील कर दिया है। यह है इन महोदय की समझदारी जो राजनीतिक अर्थशास्त्र के सवाल पर जगरूप के संशोधनवाद का खण्डन करने का बीड़ा उठाकर निकले हैं!

दूसरी बात यह कि भारत और अन्य सापेक्षिक रूप से कम विकसित देशों में तकनोलॉजी के कम विकसित होने के कारण बेरोज़गारी दर ज्यादा नहीं है, बल्कि उसका कारण पूंजी संचय और विस्तारित पुनरुत्पादन की कई देशों की तुलना में कम दर है। जैसा कि हमने ऊपर मार्क्स के हवाले से दिखलाया है, अपने आप में तकनोलॉजी रोज़गार को बढ़ाती नहीं है। यदि पूंजी संचय और विस्तारित पुनरुत्पादन की दर मशीनीकरण की दर से ज्यादा हो, तो इसकी वजह से निरपेक्ष अर्थों में रोज़गार अवश्य बढ़ सकता है।

तीसरी बात, भारत में बेरोज़गारी दर अमेरिका से कम है, तो इसका यह अर्थ नहीं है अमेरिका में मशीनीकरण भारत से कम है! भारत में बेरोज़गारी दर 2020 में 8.5 प्रतिशत है और अमेरिका में 11.1 प्रतिशत है। ये दोनों ही बुर्जुआ आंकड़े हैं लेकिन समान मानकों के आधार पर जुटाए गए हैं। इसलिए यदि हम सर्वहारा मानकों से इन्हें दुरुस्त भी करें तो इनका अन्तर वही रहेगा। जर्मनी में बेरोज़गारी दर 3.9 है और अमेरिका में 11.1 तो इसका मुख्य कारण यह है कि जर्मनी की अर्थव्यवस्था पूंजी संचय व विस्तारित पुनरुत्पादन के मामले में अमेरिका से बहुत बेहतर स्थिति में है न कि इसका यह कारण है कि अमेरिका में किसी भी मायने में जर्मनी से कम मशीनीकरण है।

यदि सुखविन्दर को यह लगता है कि पश्चिमी देशों में शायद ही कोई औरत होगी जो काम नहीं करती होगी, तो एक बार फिर वह मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों के प्रति अपनी अनभिज्ञता दिखला रहे हैं और साथ ही सर्वज्ञात तथ्यों के साथ भी दुराचार कर रहे हैं। **अमेरिका में 30 प्रतिशत से ज्यादा विवाहित महिलाएं गृहिणियां हैं, जो काम नहीं करतीं। जर्मनी में 59 प्रतिशत औरतें कोई पूर्णकालिक काम नहीं करतीं, जिनमें से करीब आधी कोई भी काम नहीं करतीं। दुनिया के अन्य विकसित देशों में भी यह आंकड़ा 15 से 50 प्रतिशत के बीच है। इसलिए सुखविन्दर का यह कहना कि पश्चिमी देशों में शायद ही कोई औरत हो जो नौकरी न करती हो, पश्चिमी देशों की स्त्रियों के बारे में उनकी कल्पना की उड़ान ज्यादा है, तथ्यों से इसका कोई रिश्ता नहीं है।**

मतलब यह कि मशीनीकरण व तकनोलॉजी के बेरोज़गारी से रिश्ते के बारे में सुखविन्दर को कोई जानकारी नहीं है क्योंकि उन्होंने मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का अध्ययन ही नहीं किया है। **मार्क्स के लिए रोज़गार व बेरोज़गारी के सापेक्षिक सम्बन्ध पूंजी संचय के चक्र या जिसे वह इण्डस्ट्रियल साइकिल भी कहते हैं, से निर्धारित होता है। अपने आप में नई तकनोलॉजी हमेशा बेरोज़गारी को बढ़ाएगी, लेकिन यदि पूंजी संचय या इण्डस्ट्रियल साइकिल तेज़ी के दौर में है, तो विस्तारित पुनरुत्पादन, नई पूंजी का निवेश और उससे पैदा होने वाला डॉमिनो इफेक्ट, यानी कि कच्चे मालों की मांग बढ़ना आदि श्रम की मांग को बढ़ा सकता है और रोज़गार को निरपेक्ष रूप में बढ़ा सकता है। लेकिन जैसे ही यह बढ़ता है, पूंजीपति वर्ग इसे अन्य तरीकों से फिर से उस सीमा में रखता है, जिससे कि औसत मज़दूरी पर बढ़ने का अधिक दबाव (upward pressure on wages) न पड़े।**

कुल मिलाकर ऐतिहासिक तौर पर पूंजीवादी विकास के साथ श्रम की सक्रिय सेना और श्रम की आरक्षित सेना दोनों ही बढ़ते हैं, लेकिन यह पूंजी संचय का एक नियम है कि आम तौर पर लम्बे दौर में श्रम की आरक्षित सेना श्रम की सक्रिय सेना के मुकाबले ज्यादा तेज़ी से बढ़ती है। **इसलिए सुखविन्दर का केवल पूंजीवाद के इतिहास में रोज़गारशुदा मज़दूरों की संख्या में बढ़ोत्तरी को दिखलाना और फिर यह दावा करना कि तकनोलॉजी के उन्नत होने के साथ बेरोज़गारी घटती गयी, निहायत अहमकाना है क्योंकि बेरोज़गारों की आबादी में पूंजीवाद के इतिहास में किस रफ्तार से बढ़ोत्तरी हुई है, इससे उसकी तुलना किये बिना ऐसा कोई नतीजा निकल ही नहीं सकता है।**

दूसरी बात सुखविन्दर का यह तर्क कि तकनोलॉजी उन्नत होने के साथ बेरोज़गारी कम होती जाएगी, पूंजीवाद का पक्षपोषण है क्योंकि ऐसे दावे की तार्किक परिणति यह दावा करना होगा कि एक दिन पूंजीवादी बेरोज़गारी

को समाप्त कर देगा!

जगरूप ने शायद यह दावा किया है कि नई तकनोलॉजी आने से बेरोज़गारी बढ़ती है, जिसका खण्डन करने के लिए सुखविन्दर कहते हैं:

> "अब यदि जगरूप का कहना सही हो, तो मार्क्स के समय जितने मज़दूर थे, आज उससे कम होने चाहिए थे। आज मज़दूर...मार्क्स तो बहुत हैरान हो जाएंगे, अगर आज वे मज़दूर देख लें कि कितने ही मज़दूर हैं। है न? आज जो संसार है, वह मज़दूरों का संसार है। ऐसा पहली बार हुआ है। आज मज़दूर ही मज़दूर हैं। भारत के शहरों में 25 करोड़ मज़दूर हैं। सिर्फ़ अर्बन मज़दूर 25 करोड़ है।"

कैसा बचकानापन है यह? निश्चित तौर पर, तकनोलॉजी के उन्नत होने के साथ रिज़र्व आर्मी ऑफ लेबर का सापेक्षिक आकार लम्बे दौर में एक्टिव आर्मी ऑफ लेबर की तुलना में बढ़ता है, हालांकि निरपेक्ष रूप में एक्टिव आर्मी ऑफ लेबर का आकार भी बढ़ता है क्योंकि पूंजी संचय तथा विस्तारित पुनरुत्पादन का मूल तर्क ही ऐसा है। **जगरूप यदि सिर्फ इतना कहता है कि तकनोलॉजी आने से बेरोज़गारी बढ़ती है और इसके आधार पर रूमानी तकनोलॉजी-विरोध पर चला जाता है, तो निश्चित तौर पर उसका खण्डन किया जाना चाहिए। लेकिन उसका खण्डन करने के लिए नवउदारवादी फ्रीडमैन के तर्क पर जाने की कोई आवश्यकता नहीं है कि तकनोलॉजी रोज़गार को बस शुद्ध रूप से बढ़ाती है।** यह उससे ज्यादा बेरोज़गारी को बढ़ाती है।

सुखविन्दर बस यह बताते हैं कि मार्क्स के समय से मज़दूरों की संख्या कितनी बढ़ गयी है और आज भारत में 25 करोड़ शहरी मज़दूर हैं। इस तर्क में दो समस्या है।

पहली बात यह है कि मार्क्स के समय से आज के समय तक बेरोज़गार आबादी या रिजर्व आर्मी ऑफ लेबर की संख्या में होने वाली बढ़ोत्तरी को भी आपको बताना चाहिए जो कि सुखविन्दर ने नहीं बताई है। दूसरी समस्या यह है कि भारत के करीब 25 करोड़ शहरी मज़दूरों में सभी रोज़गारशुदा नहीं हैं, इसलिए सुखविन्दर को अपने वर्ग की विचित्र परिभाषा के अनुसार बेरोज़गार मज़दूरों को मज़दूरों में गिनना ही नहीं चाहिए, जिस पर हम आगे आएंगे! लेकिन सुखविन्दर गणित का सुविधाजनक इस्तेमाल करते हैं। जहां उन्हें जो जोड़ने और घटाने का मन करता है या अपनी किसी मूर्खतापूर्ण बात को सिद्ध करने के लिए उपयोगी लगता है, वह वैसा कर डालते हैं!

आखिरी बात, मार्क्स को आज की दुनिया में मज़दूरों की आबादी का आकार देख कर शायद ही बहुत अचरज होता क्योंकि 'पूंजी' में ही वह इस बात का जिक्र करते हैं कि समाज अधिक से अधिक दो ध्रुवों में ध्रुवीकृत होगा और बड़ी मध्यवर्ती संस्तरों व वर्गों की आबादी लगातार सर्वहारा वर्ग की कतार में शामिल होती जाएगी। मार्क्स को मज़दूरों की बढ़ी संख्या पर तो कोई अचरज नहीं होता, लेकिन अपने समय के मुकाबले मूर्खता के प्रतिमानों में बढ़ोत्तरी को देखकर ताज्जुब अवश्य हो सकता था, और हमारे समय में मूर्खता के नये प्रतिमानों को स्थापित करने में सुखविन्दर का कोई कम योगदान नहीं है! ऐसे मूर्खतापूर्ण दावे नहीं करने चाहिए।

आगे बढ़ते हैं।

मार्क्स के सापेक्षिक दरिद्रीकरण के सिद्धान्त के बारे में सुखविन्दर की निरपेक्ष बौद्धिक दरिद्रता

मार्क्स के मज़दूर वर्ग के सापेक्षिक दरिद्रीकरण (relative impoverishment of the working class) का अर्थ सुखविन्दर की समझ में ही नहीं आया है! आइये देखते हैं कि सुखविन्दर इस पर क्या कहते हैं:

> "इस पर भी बहुत बहस है कि मार्क्स ने जो कंगालीकरण की थियरी दी है, यह सापेक्ष कंगालीकरण होता है या निरपेक्ष कंगालीकरण होता है। निरपेक्ष का मतलब होगा कि मज़दूर का ग्राफ़ नीचे ही जा रहा है। एक होता है वैसे तो उसकी हालत में सुधार होता है पर पूँजीपतियों की तुलना में उतना सुधार नहीं होता है। लेनिन ने कहा है दोनों तरह से होता है। जैसे आज एक मज़दूर काम पर लगा हुआ है, उसका वेतन है 10,000 रुपये, कल 12000 हो गया, तो थोड़ी हालत सुधर गई उसकी, परसो बेरोज़गारी आ गई तो वह निरपेक्ष कंगाल हो जाएगा। पूँजीवाद लोगों को कंगाल करता है।"

ग़ज़ब मूर्खता है! अब हम मूर्ख बोलेंगे, तो यह महोदय नाराज़ होकर कोपभवन में चले जाएंगे और बोलेंगे कि "कट्टी, हम तुमसे बहस नहीं करेंगे, तुमने हमें मूर्ख बोला!" अब मूर्ख को मूर्ख न बोलें तो क्या बोलें? मार्क्स के सापेक्षिक कंगालीकरण के सिद्धान्त के बारे में सुखविन्दर ने निरपेक्ष बौद्धिक कंगालीकरण का प्रदर्शन ही तो किया है यहां पर!

मार्क्स की सापेक्षिक दरिद्रीकरण की अवधारणा का यह अर्थ नहीं है कि आज मज़दूर की मज़दूरी 10 हज़ार से 12 हज़ार हो गयी तो वह थोड़ा समृद्ध हो गया और कल उसका रोज़गार चला गया तो वह दरिद्र हो गया और इस प्रकार यह निरपेक्ष नहीं बल्कि सापेक्ष दरिद्रीकरण है, क्योंकि मज़दूर कभी समृद्ध हो रहा है, तो कभी दरिद्र! हम फिर पूछते हैं: यह मूर्खता नहीं तो और क्या है?

मार्क्स की सापेक्षिक दरिद्रकरण की अवधारणा का अर्थ यह है कि जैसे-जैसे पूंजीवाद का विकास होता है, वैसे-वैसे कुल उत्पादित मूल्य में मज़दूरी का हिस्सा घटता जाता है और मुनाफे का हिस्सा बढ़ता जाता है। ऐसा तब भी हो सकता है जबकि मज़दूरी निरपेक्ष रूप से बढ़ रही हो, क्योंकि कुल उत्पादित मूल्य निरपेक्ष रूप से उससे भी तेज़ गति से बढ़ रहा होता है। यानी मुनाफा मज़दूरी से भी तेज़ गति से बढ़ रहा है। इसे कहते हैं 'मज़दूर वर्ग के सापेक्षिक दरिद्रीकरण या कंगालीकरण का सिद्धान्त'।

साथ ही, मार्क्स कहते हैं कि कोई ज़रूरी नहीं है कि हर दौर में मज़दूरी निरपेक्ष रूप से बढ़े ही। ऐसा भी हो सकता है कि किसी दौर में मज़दूर वर्ग की वास्तविक मज़दूरी (real wage) निरपेक्ष रूप से घटे। विशेष तौर पर संकट के दौरों में ऐसा होता है क्योंकि बेरोज़गारी के बढ़ने के साथ रोज़गारशुदा मज़दूरों की औसत मज़दूरी समाज में नीचे जाती है क्योंकि श्रमशक्ति की आपूर्ति श्रमशक्ति की मांग की अपेक्षा बढ़ जाती है। यानी मज़दूरी पर नीचे की ओर जाने का दबाव (downward pressure on wages) पैदा होता है। इसलिए बेरोज़गारी के कारण मज़दूरी पर पड़ने वाले प्रभाव से मार्क्स का यह अर्थ नहीं है कि किसी मज़दूर की मज़दूरी कुछ समय पहले 10 से 12 हज़ार हुई थी और आज वह बेरोज़गार हो गया तो वह शून्य हो गयी और इसके अनुसार उसका सापेक्षिक दरिद्रीकरण हो गया।

ऐसा कहकर सुखविन्दर मार्क्स के सापेक्षिक दरिद्रीकरण का सिद्धान्त तो सिद्ध नहीं कर पाते मगर अपने दिमाग के निरपेक्ष दरिद्रीकरण का सिद्धान्त बिल्कुल बिना शक़ सिद्ध कर डालते हैं।

मार्क्स जब सापेक्षिक दरिद्रीकरण की बात करते हैं, तो वह अलग-अलग मज़दूरों के समृद्ध होने और दरिद्र होने का विश्लेषण नहीं है, बल्कि वह पूरे समाज के स्तर पर मज़दूर वर्ग के कुल उत्पादित मूल्य में हिस्सेदारी के घटने की परिघटना की ओर इशारा करते हैं।

स्पष्ट है कि सुखविन्दर ने मार्क्स की आर्थिक रचनाओं का कतई अध्ययन नहीं किया है और किसी घटिया टेक्स्टबुक से कुछ पढ़ लिया है और सम्भवत: वह भी उनके समझ में नहीं आया है। इस बात की भी पर्याप्त सम्भावना है कि कोई घटिया टेक्स्टबुक भी न पढ़ी हो, और विकीपीडिया से पढ़ने के बाद अपनी कल्पना के घोड़े दौड़ा दिये हों!

सुखविन्दर द्वारा जगरूप के अल्पउपभोगवाद का भ्रमित अल्पउपभोगवादी खण्डन

अब सुखविन्दर द्वारा जगरूप के अल्पउपभोगवाद (under-consumptionism) की आलोचना पर ग़ौर करें। सुखविन्दर कहते हैं:

> "मान लो, आज सारे संसार की आबादी की ज़रूरत पूरी करने के लिए 1 लाख करोड़ रुपये निवेश होता है, इतना तो मानना ही पड़ेगा। वैसे तो अधिक होता होगा। 1 लाख करोड़ रुपये हमने लगाए, उससे 1 लाख करोड़ रुपये मुनाफ़ा हो गया। अब मान लो लोगों की खरीद शक्ति दोगुनी कर दें, तो उनकी ज़रूरत पूरी करने के लिए हमें 1 लाख करोड़ नहीं 2 लाख करोड़ रुपये लगाना पड़ेगा। अब 2 लाख करोड़ लगाया तो 2 लाख करोड़ रुपये मुनाफ़ा आ गया। अब लोगों की ज़रूरत पूरी करने के लिए 2 लाख करोड़ रुपये चाहिए, लेकिन जो अतिरिक्त 2 लाख करोड़ आ गया, वह कहाँ जाएगा। फिर संकट।"

यह उदाहरण ही ग़लत है और ये दिखला देता है कि मार्क्सवादी संकट के सिद्धांत की सुखविंदर की कोई समझदारी नहीं है।

बुनियादी बात यह है कि मजदूर अपनी उजरत (wages) से ज्यादा नहीं खरीद सकते। यानी कुल सामाजिक उत्पादन में खर्च हुए उत्पादन व उपभोग के साधनों को वापस पूरा करने के बाद, जो अतिरिक्त उत्पाद बचता है, उसे पूंजीपति वर्ग ही खरीद सकता है। परजीवी निर्भर वर्ग (जैसे लगानजीवी भूस्वामी) और मध्य वर्ग की आय का स्रोत मज़दूर की उजरत या पूंजीपति का मुनाफा ही होता है क्योंकि वे प्रत्यक्षत: उत्पादन की प्रक्रिया में न तो पूंजीपति के रूप में शामिल होते हैं और न ही मज़दूर के रूप में; इसलिए वे भी अतिरिक्त उत्पाद नहीं खरीद सकते। यह पूंजीपति वर्ग ही होता है जो प्रभावी माँग (effective demand) पैदा करता है।

अल्पउपभोगवादियों का कहना है कि यह अतिरिक्त उत्पाद कभी पूरा नहीं खरीदा जाता क्योंकि पूंजीपति वर्ग अपने बेशी मूल्य को पूरा खर्च नहीं करता और उसका एक हिस्सा पूंजी में रूपान्तरित करने के लिए संचित कर लेता है। इसके कारण एक 'मांग अन्तर' (demand gap) पैदा हो जाता है, जो कि पूंजीवादी उत्पादन के आगे बढ़ने के साथ बढ़ता जाता है। इस अतिरिक्त उत्पाद के लिए पूंजीवाद को गैर-पूंजीवादी क्षेत्र जैसे कि उपनिवेशों या

प्राक्-पूंजीवादी वर्गों व क्षेत्रों/सेक्टरों में उपभोक्ता की तलाश करनी पड़ती है। **मार्क्स ने बताया कि यह तर्क ग़लत है क्योंकि पूंजीवादी उत्पादन यदि विस्तारित पैमाने पर हो रहा है तो उत्पादन के हर अगले चक्र में वह नयी मशीनें भी लगाता है और नये मज़दूरों को भी काम पर रखता है, जिससे कि पिछले चक्र के अतिरिक्त उत्पाद के लिए प्रभावी मांग पैदा होती है। यानी अतिरिक्त उत्पाद के लिए प्रभावी मांग पूंजीपति वर्ग द्वारा विस्तारित पैमाने पर निवेश से पैदा होती है क्योंकि वह पूंजीपतियों के बीच खरीद को (मूलत: उत्पादन के साधनों की खरीद को) बढ़ावा देता है और साथ ही श्रमशक्ति की खरीद को भी बढ़ावा देता है।**

सुखविन्दर जो उदाहरण दे रहे हैं, वह ग़लत है और दिखलाता है कि उन्हें अल्पउपभोगवाद के बारे में भी ठीक से समझदारी नहीं है और उसके मार्क्स द्वारा खण्डन के बारे में तो बिल्कुल समझदारी नहीं है। वह कहते हैं कि पहले समाज की सारी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए 1 लाख करोड़ का निवेश हुआ जिसने 2 लाख करोड़ के बराबर मूल्य का सामाजिक उत्पाद पैदा किया। अल्पउपभोगवादी कहते हैं कि लोगों की क्रय शक्ति को 1 लाख करोड़ और बढ़ा दो, ताकि 1 लाख करोड़ रुपये के बराबर मूल्य का अतिरिक्त सामाजिक उत्पाद उनके द्वारा खरीदा जा सके। इसके खण्डन के तौर पर सुखविन्दर कहते हैं कि अगर ऐसा किया जाएगा तो 2 लाख करोड़ रुपये लगाते ही 2 लाख करोड़ रुपये का अतिरिक्त सामाजिक उत्पाद आ जाएगा। **ग़लत! ऐसा केवल उस सूरत में होगा जब कि ये 1 लाख करोड़ उत्पादन में निवेशित हो। अल्पउपभोगवादियों का यही तर्क नहीं है। अल्पउपभोगवादी हमेशा उत्पादन में 1 लाख करोड़ अतिरिक्त लगाने की मांग नहीं करते हैं क्योंकि वे भी मानते हैं कि इससे मांग अन्तर (demand gap) बढ़ेगा। वे आमदनी/आय को बढ़ाने की मांग करते हैं। यानी घरेलू मांग बढ़ाने के लिए अर्थव्यवस्था में अधिक तरलता डाली जाय और उसे लोगों की आय बढ़ाने पर लगाया जाय, न कि सट्टेबाज़ी पर या किसी अन्य क्षेत्र में। तो मतलब, लोगों को सामाजिक वेज (social wage) दो, पेंशनें दो, न्यूनतम मज़दूरी बढ़ाओ, राज्य द्वारा अन्य कल्याणकारी कदम उठाओ जो कि औसत आय को बढ़ाता हो और घरेलू मांग पैदा करता हो। इससे 2 लाख करोड़ रुपये अतिरिक्त सामाजिक उत्पादन नहीं पैदा होगा और जो 1 लाख करोड़ रुपये का अतिरिक्त सामाजिक उत्पाद है, उसके लिए क्रय शक्ति पैदा हो जाएगी। यानी सुखविन्दर अल्पउपभोगवादियों के तर्क का खण्डन करने के लिए पहले उसे मिसरिप्रेजेण्ट करते हैं और फिर उसके खण्डन का प्रयास करते हैं और उसके बाद भी नहीं कर पाते!** मार्क्स ने इसका क्या खण्डन किया? उस पर थोड़ा आगे आते हैं, पहले देख लेते हैं कि सुखविन्दर इसका क्या खण्डन करते हैं:

> "फिर कोई कहेगा (क्रयशक्ति) और बढ़ा दो। फिर संकट, फिर कोई कहेगा और बढ़ा दो। बुर्जुआज़ी क्या इतनी मूर्ख है? क्या ऐसा हो जाएगा? नहीं न हो सकता है ऐसा। क्योंकि पूँजीवाद में कंगालीकरण बढ़ता है। इस पर भी बहुत बहस है कि मार्क्स ने जो कंगालीकरण की थियरी दी है, यह सापेक्ष कंगालीकरण होता है या निरपेक्ष कंगालीकरण होता है। निरपेक्ष का मतलब होगा कि मज़दूर का ग्राफ़ नीचे ही जा रहा है। एक होता है वैसे तो उसकी हालत में सुधार होता है पर पूँजीपतियों की तुलना में उतना सुधार नहीं होता है। लेनिन ने कहा है दोनों तरह से होता है। जैसे आज एक मज़दूर काम पर लगा हुआ है, उसका वेतन है 10000 रुपये, कल 12000 हो गई, तो थोड़ी हालत सुधर गई उसकी, परसो बेरोज़गारी आ गई तो वह निरपेक्ष कंगाल हो जाएगा। पूँजीवाद लोगों को कंगाल करता है। उनकी खरीद शक्ति थोड़ा न बढ़ाती है।

बाकी, संकट का समाधान पूँजीवाद का खात्मा है।"

फिर से, अल्पउपभोगवादी तर्क की असल कोर का खण्डन ही नहीं किया गया। सुखविन्दर समझा ही नहीं पाए हैं कि पूंजीवाद आम तौर पर समाज में मज़दूर वर्ग की क्रय शक्ति को क्यों नहीं बढ़ा सकता है। क्रय शक्ति इसलिए पूंजीपति वर्ग बढ़ा ही नहीं सकता क्योंकि यह समाज में औसत मज़दूरी पर बढ़ने का दबाव (upward pressure on wages) पैदा करता है जो कि मुनाफे की दर को नीचे ले जाता है। इसलिए कल्याणवादी, सुधारवादी, कींसवादी व संशोधनवादी चाहे कितना भी रोना-चिल्लाना करें, बुर्जुआजी क्रय शक्ति को बढ़ाने के लिए सामाजिक खर्च नहीं करने वाली। सुखविन्दर का यह तर्क कि क्रय शक्ति बढ़ाने से उत्पादन बढ़ाना पड़ेगा, गलत है।

क्रय शक्ति बढ़ाने का लॉजिक कींसवादी व संशोधनवादी इसलिए देते हैं क्योंकि उनका कहना है कि जो नॉन-रियलाजेशन का संकट है, यानी माल न बिकने का संकट, उसे दूर करने के लिए सरकार सोशल वेज दे, यानी योजनाओं के जरिये कैश या वस्तु का वितरण करे, न्यूनतम मज़दूरी बढ़ाए, पेंशन, कैश ट्रांसफर, व अन्य राजकीय कल्याणकारी उपक्रमों आदि के ज़रिये घरेलू मांग को बढ़ाए जो कि अतिरिक्त उत्पाद को खरीद सके। मार्क्स क्या कहते हैं? मार्क्स का कहना है कि नॉन रियलाइजेशन का संकट ही मुनाफे की गिरती दर से पैदा होता है। मार्क्स कहते हैं कि समाज में क्रय शक्ति क्यों नहीं है, क्योंकि समाज में बेरोज़गारी है और यदि पूर्ण रोज़गार हो (जो कि पूंजीवाद में असम्भव है) तो भी मज़दूर कुल उत्पाद में अपनी मज़दूरी के बराबर उत्पाद को ही खरीद सकता है; रोज़गार कम इसलिए है क्योंकि निवेश कम है; निवेश कम इसलिए है क्योंकि मुनाफे की औसत दर गिर रही है; मुनाफे की औसत दर इसलिए गिर रही है क्योंकि पूंजी का आवयविक संघटन बढ़ रहा है; पूंजी का आवयविक संघटन बढ़ना पूंजीवादी स्वाभाविक प्रकृति है क्योंकि पूंजीवाद के मूल में दो प्रतियोगिताएं हैं: पूंजीपति वर्ग की आपसी प्रतिस्पर्द्धा और मज़दूर वर्ग और पूंजीपति वर्ग के बीच संघर्ष। पूंजीपति वर्ग की आपसी प्रतिस्पर्द्धा कम-से-कम लागत पर माल का उत्पादन करना है, जिसके लिए मशीनीकरण आवश्यक है जो कि आवयविक संघटन को बढ़ाता है; मज़दूर वर्ग का वर्ग संघर्ष पूंजीपति वर्ग को मजबूर करता है कि वह मज़दूरों की मोलभाव की क्षमता को कम करने के लिए मशीनीकरण करे, जो फिर से, आवयविक संघटन को बढ़ाता है। इन दोनों प्रवृत्तियों के कारण आवयविक संघटन में लगातार बढ़ने की प्रवृत्ति होती है, जो कि अन्ततः मुनाफे की औसत दर को लम्बे दौर में नीचे गिराने की प्रवृत्ति पैदा करती है; इसके नतीजे के फलस्वरूप संकट आता है, निवेश गिरता है, शुद्ध बेरोज़गारी (net unemployment) बढ़ती है, औसत मज़दूरी भी घटती है, पूंजीपति वर्ग की आपसी खरीद-फरोख्त कम होती है, माल नहीं बिकते, नॉन-रियलाइजेशन का संकट पैदा होता है, और नतीजतन अल्पउपभोग होता है।

यानी मार्क्स के अनुसार, अल्पउपभोग संकट का कारण नहीं है बल्कि उसका लक्षण है और इसीलिए इसे सरकार द्वारा समाज में क्रयशक्ति पैदा करके नहीं दूर किया जा सकता है क्योंकि यदि औसत मज़दूरी बढ़ेगी, तो पहले से ही संकट से बिलबिला रहा पूंजीपति वर्ग निवेश हड़ताल (investment strike) पर चला जाएगा। और इसलिए संकट से निजात का रास्ता प्रभावी घरेलू मांग (effective domestic demand) यानी क्रय शक्ति को सरकारी कल्याणवाद से बढ़ाना नहीं हो सकता है, बल्कि केवल पूंजीवाद का विनाश ही इसे संकटों के चक्र से मुक्ति दिला सकता है।

लेकिन सुखविन्दर जगरूप के अल्पउपभोगवाद का विवरण देते हैं, लेकिन उसका कोई मार्क्सवादी खण्डन पेश करने की बजाय एक ऐसा मूर्खतापूर्ण उदाहरण पेश करते हैं, जो कि अल्पउपभोगवाद के लिए ही सांस लेने की जगह छोड़ देता है। यह है सुखविन्दर की मार्क्स के संकट के सिद्धान्त की समझदारी।

बेरोज़गारी के सुखविन्दरीय सिद्धान्त में सुखविन्दर द्वारा कुछ और इजाफ़े!

बेरोज़गारी का सुखविन्दरीय सिद्धान्त विस्तारित करना सुखविन्दर जारी रखते हैं। हर विस्तार के साथ वह मूर्खता के नये सीमान्त उजागर करते हैं। प्राक्-पूंजीवादी समाजों में बेरोज़गारी की परिघटना की अनुपस्थिति के बारे में सुखविन्दर के विचार देखिये:

> "बेरोज़गारी होती पूँजीवाद में ही है। उससे पहले के समाजों में बेरोज़गारी नहीं होती थी। उससे पहले आदमी रोज़गार में ही...चलो, रोज़गार पर ही रहता था क्योंकि उत्पादक शक्तियाँ बहुत पिछड़ी हुई थीं, रोज़ी-रोटी का फ़िक्र, हर वक्त काम पर ही रहता था। जब पूँजीवाद आता है तो बेरोज़गारी आती है।"

ग़लत। प्राक-पूंजीवादी समाज में आधुनिक पूंजीवादी अर्थों में और ढांचागत स्वरूप में आर्थिक बेरोज़गारी के न होने का कारण उत्पादक शक्तियों का पिछड़ा होना और लोगों का हर वक्त रोज़ी-रोटी की फिक्र होना नहीं होता था। यह निपट मूर्खता है। ढांचागत और आर्थिक अर्थों में बेरोज़गारी का पूंजीवादी समाज व सम्बन्धों के साथ अस्तित्व में आने का कारण यह था कि उससे पहले उजरती मज़दूरों का ऐसा विशाल वर्ग मौजूद नहीं था जिसके पास अपनी श्रमशक्ति को बेचने के अलावा और कोई विकल्प ही नहीं है और उसके जीविकोपार्जन के लिए यह अनिवार्य होता है कि वह किसी पूंजीपति को अपनी श्रमशक्ति बेच सके।

प्राक्-पूंजीवादी समाज में जिस हद तक माल उत्पादन का विकास होता है, उस हद तक बेकारी भी प्रकट हो सकती है और ऐतिहासिक तौर पर हुई भी है। लेकिन जब तक प्रत्यक्ष उत्पादकों को उनके उत्पादन के साधनों से व्यापक सामाजिक पैमाने पर अलग ही नहीं किया जायेगा और वे आर्थिकेतर सामन्ती उत्पीड़न का शिकार तो होंगे, लेकिन वे "दोहरे अर्थों में स्वतंत्र" नहीं होंगे (यानी उत्पादन के साधनों से "स्वतंत्र" और किसी भी पूंजीपति को अपनी श्रमशक्ति बेचने के लिए "स्वतंत्र"), तो ढांचागत आर्थिक बेरोजगारी की परिघटना का व्यापक सामाजिक पैमाने पर पैदा होना असम्भव है।

समाज की परिधि पर सामन्ती काल में भी बेकारी-बेरोज़गारी थी, हालांकि उसका स्वरूप वह नहीं था जो कि पूंजीवादी समाज में होता है। ऐसी बेकारी या तो सामन्ती समाज के भीतर ही विकसित हो रहे पूंजीवादी सम्बन्धों के कारण बेहद सीमित परिघटना के तौर पर मौजूद थी, या फिर ये दरिद्र, या सामन्ती उत्पीड़न से बग़ावत कर डकैत, लुटेरा, आदि बन गयी आबादी के रूप में मौजूद थी।

प्राक्-पूंजीवादी समाज में ढांचागत आर्थिक रूप में बेरोज़गारी की परिघटना की गैर-मौजूदगी का रिश्ता सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों से होता है न कि उत्पादक शक्तियों के पिछड़े होने की वजह से। यह मूर्खतापूर्ण बात है कि सामन्ती समाज में उत्पादक शक्तियों के पिछड़े होने की वजह से सभी लोग रोजी-रोटी में लगे रहते थे, पिछड़े थे और इसलिए बेरोज़गारी नहीं थी! जैसा कि आप देख सकते हैं कि बेरोज़गारी के विषय पर सुखविन्दर के

सिद्धान्त का मार्क्सवाद के सिद्धान्त से कोई रिश्ता नहीं है। इसीलिए इसे हमने इसे बेरोज़गारी का सुखविन्दरीय सिद्धान्त कहा है।

वर्ग की अवधारणा के बारे में सुखविन्दर के प्रचण्ड मूर्खतापूर्ण विचार

बेरोज़गारी के अपने इस मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त को विकसित करते हुए ही सुखविन्दर वर्ग की भी एक नयी परिभाषा दे डालते हैं। उनके अनुसार, मज़दूर का बेटा मज़दूर नहीं होता है; बेरोज़गार मज़दूर नहीं होता है, वह सिर्फ बेरोज़गार होता है क्योंकि वर्ग तो काम/पेशे से तय होता है, बेरोज़गार तो बस बेरोज़गार होता है, उसका वर्ग नहीं बना होता क्योंकि वह काम नहीं कर रहा होता। आप अविश्वास और आश्चर्य में सिर हिला सकते हैं, लेकिन हमारा यक़ीन करिये, सुखविन्दर का यही सिद्धान्त है! और फिर भी यक़ीन नहीं, तो जगरूप पर दिये उनके भाषण का वीडियो देख लीजिये।

जिसने भी मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का 'क ख ग' भी पढ़ा हो, वह ऐसी भयंकर बेवकूफी पर केवल हंस सकता है। अब पाठक स्वयं ही बताएं, कि ऐसी बात को बेवकूफी न कहा जाय तो क्या कहा जाय? क्या इसका मार्क्स के विचारों से दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध है?

आइये देखते हैं कि सुखविन्दर इन आश्चर्यजनक चमत्कारी नतीजों पर कैसे पहुंचते हैं। सुखविन्दर कहते हैं:

> "वर्ग तो काम से तय होता है न। मतलब, क्लास एकमात्र ऐसी चीज़ है जो form होती है (यानी बनती है)। कास्ट में तो हम पैदा होने पर किसी न किसी जाति के होते हैं, जिसे हम पहचान कहते हैं, किसी न किसी धर्म के होते हैं, पर वर्ग तो जब हम काम में जाते हैं न, उत्पादन की प्रक्रिया में, फिर हमारा वर्ग बनता है न कि हम किस वर्ग के हैं। हम वर्ग लेकर तो नहीं पैदा होते हैं। मज़दूर का बेटा मज़दूर थोड़ा न होता है, वह मज़दूर का बेटा होता है।"

अगर आपको कोई भ्रम रह गया हो, तो सुखविन्दर तत्काल ही यह भ्रम खुद ही दूर कर देते हैं। देखें वह आगे क्या कहते हैं:

> "जब मज़दूरी करने लग जाता है, फिर मज़दूर हुआ न। अब जो बेरोज़गार होते हैं, उन्हें हम कहते हैं बिना वर्ग के। अभी उनका कोई वर्ग नहीं है, वह बिना वर्ग के हैं। वर्ग तब बनता है जब वह किसी उत्पादन की क्रिया में लगता है। अब बिना वर्ग के लोग, जो लूम्पेन प्रोलेतारी होता है, वह भी बिना वर्ग का होता है। लूम्पेन जो होते हैं, गुण्डे, बदमाश, चोर, उचक्के, लूम्पेन। क्या चोर का कोई वर्ग होता है? नहीं न होता है? जर्मनी में एक दर्जी था, वाइटलिंग, मार्क्स का बहुत कट्टर विरोधी था। वह कहता था जो लूम्पेन प्रोलेतारी है, वह समाजवाद की लड़ाई लड़ेगा। यानी कि जो बिना वर्ग का व्यक्ति है।"

अपने दिमागी गड़बड़झाले को सुखविन्दर निम्न अगड़म-बगड़म बोलकर विस्तारित करते हैं:

> "बेरोज़गारों को हम लूम्पेन प्रोलेतारी नहीं कह सकते हैं। बेरोज़गार और लूम्पेन प्रोलेतारी में एक साझा चीज़ है कि दोनों ही बिना वर्ग के हैं। ना तो ये इक्कट्ठा हों, ना कोई क्रान्ति हो।"

अभी खत्म नहीं हुआ है, और देखें:

> "(जगरूप कहता है कि) "सरप्लस प्रोलेतारी मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के शब्द हैं।" यह कहाँ है सरप्लस प्रोलेतारी मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र में। होगा तो मान लेंगे, अगर कोई बता दे कि देखो यहाँ लिखा हुआ है। सरप्लस प्रोलेतारी है ही नहीं, क्योंकि वह प्रोलेतारी होता ही नहीं है। वह तो बेरोज़गार होता है।"

यानी सुखविन्दर को लगता है कि मज़दूर का बेटा मज़दूर नहीं है, वह तो बस मज़दूर का बेटा है! उसका कोई वर्ग नहीं है और वह बिना वर्ग का है! वह जब काम करता है, तब वह मज़दूर बन जाता है! बेरोज़गार का कोई वर्ग नहीं होता है, वह भी बिना वर्ग का है! लम्पट सर्वहारा का भी कोई वर्ग नहीं होता है, वह बिना वर्ग का है!

क्या इन भयंकर और प्रचण्ड मूर्खतापूर्ण बातों का मार्क्स की शिक्षाओं से दूर-दूर तक का भी कोई रिश्ता है? क्या ऐसे व्यक्ति को जिसे मार्क्स की शिक्षाओं की एकदम बुनियादी समझदारी भी नहीं है, उसे स्टडी सर्किल चलाने और संशोधनवाद के खण्डन का कार्य अपने हाथ में लेना चाहिए? बिल्कुल यह उसका जनवादी अधिकार है जिस प्रकार मूर्खता करना मूर्ख का भी जनवादी अधिकार होता है! लेकिन यदि वह कम्युनिस्ट होने का दावा करता है तो क्या उसे इस विषय पर बोलने से पहले मार्क्सवाद-लेनिनवाद का गम्भीरता से अध्ययन नहीं कर लेना चाहिए, कम-से-कम मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का 'ए बी सी' नहीं समझ लेना चाहिए?

अब आइये इस भयंकर मूर्खतापूर्ण बातों का सिलसिलेवार विश्लेषण करते हैं और इन नुक्तों पर मार्क्सवादी सिद्धान्त को भी देखते चलते हैं।

पहली बात तो यह है मज़दूर का बेटा मज़दूर वर्ग का ही सदस्य है और ऐसा नहीं है कि वह काम करने पर ही मज़दूर बनता है। मज़दूर वर्ग और कारखाना मज़दूर एक ही नहीं हैं। **मज़दूर वह है जिसके पास अपनी श्रमशक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अब वह यह श्रमशक्ति बेच पाता है या नहीं यानी उसे इसका ख़रीदार मिलता है या नहीं, वह दीगर बात है। लेबर चौक पर खड़े एक मज़दूर की श्रमशक्ति एक दिन बिकती है तो वह मज़दूर हो जाता है और दूसरे दिन नहीं बिकती तो वह वर्गरहित बेरोज़गार हो जाता है, ऐसी बात वही कह सकता है जिसका दिमाग़ी सन्तुलन गड़बड़ा गया हो। मार्क्स बताते हैं कि पूंजीवादी समाज में 'शोषण करवाने का अधिकार' भी सभी मज़दूरों को हमेशा नहीं मिल पाता है, यानी मज़दूर हमेशा अपनी श्रमशक्ति बेच ही पाएं, यह ज़रूरी नहीं है। लेकिन इससे वह मज़दूर नहीं रह जाते, ऐसी बात सोचना महामूर्खतापूर्ण बात है।**

दूसरी बात, मज़दूर का बेटा मज़दूर वर्ग का ही सदस्य है क्योंकि वर्ग महज़ पेशे या काम से नहीं तय होता है, जैसा कि सुखविन्दर को लगता है। समूचे उत्पादन सम्बन्धों की व्यवस्था में किसी का क्या स्थान है, इससे उसका वर्ग तय होता है। यदि कोई मज़दूर वर्ग के परिवार में पैदा होता है, तो उसकी उत्पादन के साधनों के मालिकाने तक कोई पहुंच नहीं होती है। एक वर्ग के तौर पर बात करें, तो मज़दूर का बेटा मज़दूर ही होता है, चाहे वह अभी सक्रिय औद्योगिक मज़दूर बना हो या न बना हो, यानी वह अभी बेशी मूल्य का उत्पादन कर रहा हो या न कर रहा हो। और साथ ही वह मज़दूर वर्ग के द्वारा श्रम की आपूर्ति को वापस भरने का काम करता है। मार्क्स पूछते हैं कि मज़दूर वर्ग की आपूर्ति कहां से होती है, और स्वयं जवाब देते हैं कि मज़दूर वर्ग के बेटे-बेटियां ही "मज़दूरों की नस्ल" को जारी

रखते हैं।

मज़दूर परिवार में केवल रोज़गारशुदा काम करने वाला मज़दूर ही मज़दूर वर्ग का सदस्य नहीं होता, बल्कि उसका पूरा परिवार मज़दूर वर्ग का ही सदस्य होता है। श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन का कार्य और उसके खर्च को पूंजीपति वर्ग मज़दूर परिवार पर डाल देता है, और मज़दूर की पत्नी की इसमें अहम भूमिका होती है। वह बच्चों को जन्म देती है, उनका पालन-पोषण करती है, घरेलू काम करती है, रसोई चलाती है। यदि मज़दूर की पत्नी यह कार्य न करे तो मज़दूर वर्ग द्वारा श्रमशक्ति की पुन:आपूर्ति के लिए श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन की लागत और खर्च भी स्वयं पूंजीपति वर्ग को उठाना पड़ेगा क्योंकि ये सारे कार्य भी विनिमय सम्बन्धों व माल उत्पादन के दायरे में आ जाएंगे। इसलिए पूंजीपति वर्ग यह कार्य मज़दूर औरत पर डाल देता है और उसका खर्च बेहद कम हो जाता है।

इस प्रकार हर अर्थ में मज़दूर परिवार मज़दूर वर्ग का ही अंग होता है। वैसे तो इस बात को पुष्ट करने के लिए हमें उद्धरण देने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि मार्क्सवाद का आरंभिक ज्ञान रखने वाला कोई युवा भी समझ जाएगा कि सुखविन्दर कैसी ज़बर्दस्त बेवकूफी की बात कर रहे हैं, लेकिन फिर भी एक उद्धरण देकर हम आगे बढ़ेंगे:

> "The owner of labour-power is mortal. If then his appearance in the market is to be continuous; and the continuous transformation of money into capital assumes this, the seller of labour power must perpetuate himself 'in the way that every living individual perpetuates himself, by procreation'. The labour-power withdrawn from the market by wear and tear, and by death, must be continually replaced by, at the very least, an equal amount of fresh labour-power. Hence the sum of means of subsistence necessary for the production of labour-power must include the means necessary for the worker's replacements, i.e. his children, in order that **this race of peculiar commodity-owners may perpetuate its presence on the market."** (Marx, 'Capital', Volume 1, *emphasis ours*)

मार्क्स यहां इसी बात को बेहद सरल तरीके से स्पष्ट कर रहे हैं कि मज़दूर वर्ग के बच्चे भी मज़दूर वर्ग का ही अंग होते हैं। **वैसे भी इस बात को मार्क्स दर्जनों जगह स्पष्ट कर चुके हैं कि एक वर्ग समाज में कोई भी बिना वर्ग के अस्तित्वमान नहीं होता, बल्कि वह किसी न किसी सामाजिक वर्ग के सदस्य के तौर पर ही अस्तित्वमान होता है। वह वर्ग-निज-रूप (class-in-itself) से अपने-लिए-वर्ग (class-for-itself) में किस रूप में तब्दील होता है, राजनीतिक वर्ग चेतना विकसित होने की प्रक्रिया क्या होती है और सामाजिक वर्ग से उसकी सापेक्षिक स्वायत्तता क्या होती है, यह अलग चर्चा का विषय है।** लेकिन एक वर्ग समाज में हर जीवित मनुष्य किसी न किसी वर्ग का ही सदस्य होता है और ऐसा सोचना अज्ञान की हद है कि वह जब काम करने लगता है तभी उसका वर्ग बनता है। **उत्पादन सम्बन्ध मात्र सक्रिय पेशा नहीं होता, बल्कि सर्वप्रथम स्वामित्व के सम्बन्ध और फिर वितरण**

के सम्बन्ध और श्रम विभाजन की समूची व्यवस्था में आपका स्थान होता है। लेनिन इसे बहुत ही स्पष्टता से रखते हुए बताते हैं कि यह सामाजिक अर्थव्यवस्था और समूचे उत्पादन सम्बन्धों के ढांचे (यानी उत्पादन के साधनों तक पहुंच, सामाजिक समृद्धि के वितरण व श्रम विभाजन में स्थान) से निर्धारित होता है:

> "Classes are large groups of people differing from each other by **the place they occupy in a historically determined system of social production, by their relation (in most cases fixed and formulated in law) to the means of production, by their role in the social organisation of labour, and, consequently, by the dimensions of the share of social wealth of which they dispose and the mode of acquiring it.** Classes are groups of people one of which can appropriate the labour of another **owing to the different places they occupy in a definite system of social economy."** (Lenin, 'A Great Beginning', *emphasis ours*)

आप किसी समय सक्रिय कारखाना या औद्योगिक मज़दूर बन गये हैं या नहीं, आपके पास उस समय रोज़गार है या नहीं, आपका पेशा/काम क्या है, इसी से आपका वर्ग निर्धारित नहीं होता है। स्पष्टत:, सुखविन्दर एक निहायत मूर्खतापूर्ण यांत्रिकता के शिकार हैं और मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र और सिद्धान्त के प्रति निपट अपढ़पन का प्रदर्शन करते हैं।

अब बेरोज़गारों के प्रश्न पर आते हैं। क्या बेरोज़गारों का कोई वर्ग नहीं होता? नहीं, बेरोज़गारों का वर्ग होता है। यदि हम बेरोज़गार आबादी के उस हिस्से की बात कर रहे हैं जिसके पास अपनी श्रमशक्ति को बेचने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है, तो हम सर्वहारा वर्ग के बेरोज़गारों की बात कर रहे हैं। अन्य बेरोज़गार, जैसे कि पेटी-बुर्जुआ वर्ग के बेरोज़गार भी हो सकते हैं, जिनके पास अपनी श्रमशक्ति के अलावा भी कुछ है, जिसके बूते वह कुछ समय तक बेरोज़गार भी बने रह सकते हैं और अपनी पसन्द के रोज़गार के लिए बरसों इन्तज़ार करते हैं। मिसाल के तौर पर, एक कॉलेज डिग्री या टेक्निकल कोर्स की डिग्री वाला एक मध्यवर्गीय या उच्च मध्यवर्गीय नौजवान "अपनी काबिलियत के अनुसार" रोज़गार न मिलने पर कई वर्ष इन्तज़ार भी कर सकता है। निम्न मध्यवर्ग का नौजवान उतना इन्तज़ार नहीं कर सकता और जल्द ही जो भी नौकरी मिलती है, उसे पकड़ लेता है, यदि उसके नौकरी मिलती है! **लेकिन बेरोज़गार आबादी के इन सभी हिस्सों का एक वर्ग है क्योंकि वे उत्पादन सम्बन्धों के समूचे ढांचे में एक निश्चित स्थान रखते हैं, चाहे वे फिलहाल काम कर रहे हों या नहीं।**

दूसरी बात, स्वयं सर्वहारा वर्ग बेरोज़गारों की आबादी का सबसे बड़ा हिस्सा होता है। वह एक विशेष माल, यानी श्रमशक्ति का मालिक है। इसे बेचना उसके अस्तित्व की शर्त है क्योंकि उसके पास उत्पादन के साधनों का कोई मालिकाना नहीं है। जो भी इस स्थिति में है, वह सर्वहारा वर्ग का हिस्सा है। अब वह अपनी श्रमशक्ति बेच पाता है या नहीं, दूसरे शब्दों में, उसे "शोषण करवाने का हक़" भी मिलता है या नहीं, यह पूंजीवादी समाज में संयोग का मसला होता है।

यही वजह है कि मार्क्स सर्वहारा वर्ग के दो हिस्सों की बात करते हैं: 'श्रम की सक्रिय सेना' (active army of labour) **और 'श्रम की आरक्षित सेना'** (reserve army of labour)**। ये दोनों ही सर्वहारा वर्ग का अंग हैं और दूसरा हिस्सा 'अतिरिक्त आबादी'** (surplus population) **का हिस्सा है। यह 'अतिरिक्त आबादी'** ***मूलत: और मुख्यत:*** **सर्वहारा वर्ग से ही बनती है।** मार्क्स इसके बारे में कहते हैं कि मज़दूर वर्ग को हमेशा दो हिस्सों में बांटा जाना चाहिए: श्रम की सक्रिय सेना और श्रम की रिज़र्व सेना। श्रम की रिज़र्व सेना को ही मार्क्स इण्डस्ट्रियल रिज़र्व आर्मी भी कहते हैं। मार्क्स बताते हैं कि यह रिज़र्व आर्मी पूंजी संचय के नैसर्गिक परिणाम के तौर पर सक्रिय मज़दूर आबादी की तुलना में सापेक्षिक रूप से बढ़ती रहती है और कभी-कभी घटती भी है, हालांकि सक्रिय मज़दूर आबादी भी लम्बे दौर में निरपेक्ष रूप से बढ़ती है क्योंकि पूंजी का विस्तारित पुनरुत्पादन का नियम उत्पादन के स्केल को निरपेक्ष रूप से बढ़ाता है। लेकिन यही पूंजी संचय पूरी मज़दूर आबादी को निरपेक्ष रूप में उससे भी तेज़ी से बढ़ाता है और रिज़र्व आर्मी के आकार को हमेशा तेज़ी से बढ़ाता है क्योंकि यही रोज़गारशुदा मज़दूरों की मोलभाव करने की ताक़त को कम करने में उसकी मदद करता है, उनसे अधिक काम कराने, उनका अतिशोषण करने में उनकी मदद करता है। ऊपर हम इस बाबत उद्धरण पेश कर चुके हैं।

अब देखिये कि मार्क्स किस प्रकार बताते हैं कि बेरोज़गार मज़दूर भी मज़दूर ही होते हैं और मज़दूर वर्ग का अभिन्न अंग होते हैं और सिर्फ इस वजह से वह कोई कम सर्वहारा नहीं हो जाते कि उन्हें अपनी श्रमशक्ति के लिए कोई खरीदार नहीं मिला। मार्क्स कहते हैं:

> "Taking them as a whole, the general movements of wages are exclusively regulated by the expansion and contraction of the industrial reserve army, and this in turn corresponds to the periodic alternations of the industrial cycle. They are not therefore determined by the variations of the absolute numbers of the working population, **<u>but by the varying proportions in which the working class is divided into an active army and a reserve army</u>**, by the increase or diminution in the relative amount of the surplus population, by the extent to which it is alternately absorbed and set free." (Marx, 'Capital' Volume 1, Penguin Edition, p. 790, *emphasis ours*)

और देखें मार्क्स क्या कहते हैं:

> "The industrial reserve army, during the periods of stagnation and average prosperity, weighs down the active army of workers; during the periods of over-production and feverish activity, it puts a curb on their pretensions. The relative surplus population is therefore the background against which the law of the demand and supply of labour does its work." (ibid, p. 792)

एक आखिरी उद्धरण और देख लें:

"We can now understand the foolishness of the economic wisdom which preaches to the workers that they should adapt their numbers to the valorization requirements of capital. The mechanism of capitalist production and accumulation itself constantly effects this adjustment. The first word of this adaptation is the creation of a relative surplus population, or industrial reserve army. Its last word is the misery of constantly expanding strata of the active army of labour, and the dead weight of pauperism." (ibid, p. 798)

यानी मार्क्सवाद के बारे में कोई पूर्ण रूप से अनपढ़ व्यक्ति ही यह दावा कर सकता है कि बेरोज़गार का कोई वर्ग नहीं होता, बेरोज़गार हो गया मज़दूर मज़दूर वर्ग का हिस्सा नहीं है, वह बिना वर्ग का है और जब काम करता है तो मज़दूर बनता है। ऐसी निपट मूर्खता की बातों का मार्क्स से कोई रिश्ता नहीं है और मार्क्स का ऐसी बातों से रिश्ता स्थापित करना, मार्क्सवाद के खिलाफ एक बौद्धिक अपराध की श्रेणी में आता है। और यह भयंकर कृत्य सुखविन्दर बिल्कुल उसी आत्मविश्वास के साथ अंजाम देते हैं, जिस आत्मविश्वास से अक्सर मूर्खों की पहचान होती है।

अब तीसरे मसले पर आते हैं। क्या लम्पट सर्वहारा का कोई वर्ग नहीं होता? बिल्कुल होता है। सामाजिक वर्ग के तौर पर लम्पट सर्वहारा भी सर्वहारा वर्ग का ही हिस्सा होता है। देखिये कि मार्क्स इसके बारे में क्या कहते हैं:

"Finally, the lowest sediment of the relative surplus population dwells in the sphere of pauperism. Apart from vagabonds, criminals, prostitutes, ***in short the actual lumpenproletariat,*** this social stratum consists of three categories. First, those able to work. One need only glance superficially at the statistics of English pauperism to find that the quantity of paupers increases with every crisis of trade, and diminishes with every revival. Second, orphans and pauper children. These are candidates for the industrial reserve army, and in times of great prosperity, such as the year 1860, for instance, they are enrolled in the army of active workers both speedily and in large numbers. Third, the demoralized, the ragged, and those unable to work, chiefly people who succumb to their incapacity for adaptation, an incapacity which results from the division of labour; people who have lived beyond the worker's average life-span; and the victims of industry, whose number increases with the growth of dangerous machinery, of mines, chemical works, etc., the mutilated, the sickly, the widows, etc. Pauperism is the hospital of the active labour-army and the

dead weight of the industrial reserve army." (ibid, p. 797, *emphasis ours*)

लम्पट सर्वहारा सामाजिक वर्ग के रूप में सर्वहारा वर्ग का ही एक अंग होता है। यह अक्सर सर्वहारा वर्ग का वह अंग होता है जो कि टटपुंजिया वर्गों, किसान वर्ग, और यहां तक कि पूंजीपति वर्ग के बरबाद हुए तत्वों से बनता है, लेकिन साथ ही इसमें सर्वहारा वर्ग में ही पैदा हुए वे तत्व भी होते हैं, जो कि सापेक्षिक अतिरिक्त आबादी के चौथे हिस्से में चले जाते हैं, यानी काम करने में अयोग्य या अनिच्छुक, अपराधीकृत हो गये तत्व, इत्यादि।

सामाजिक वर्ग के तौर पर सर्वहारा वर्ग का अंग होने के बावजूद इन्हें लम्पट सर्वहारा क्यों कहते हैं? क्योंकि इनके पास सर्वहारा वर्गीय राजनीतिक चेतना नहीं होती है और ये विसंगठित रूप में समाज में मौजूद होते हैं। यह एंगेल्स के शब्दों में "सभी वर्गों से बरबाद हो गये तत्वों का एक सामाजिक वर्ग है" जो कि समाज की तलछट में जीवन जी रहा होता है। एंगेल्स 'जर्मनी में किसान युद्ध' में लिखते हैं:

> "The lumpenproletariat, this scum of the depraved elements of all classes, which established headquarters in the big cities, is the worst of all possible allies." (Engels, Prefatory Note, 'Peasant War in Germany')

लेकिन राजनीतिक चेतना से रिक्त सर्वहारा वर्ग की सापेक्षिक अतिरिक्त आबादी के चौथे हिस्से को मार्क्स से माओ तक कोई ख़ारिज नहीं करता, बल्कि उनमें राजनीतिक चेतना के विकास के प्रयास करने का सुझाव देते हैं। देखें माओ ने इस वर्ग के बारे में क्या लिखा है:

> "Apart from all these other classes, there is the fairly large lumpenproletariat, made up of peasants who have lost their land and handicraftsmen who cannot get work. They lead the most precarious existence of all....One of China's difficult problems is how to handle these people, Brave fighters but apt to be destructive, they can become a revolutionary force if given proper guidance." (Mao, 'Analysis of the Classes in Chinese Society').

'चीनी क्रान्ति और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी में माओ लम्पट सर्वहारा वर्ग के बारे में लिखते हैं:

> "Denied proper means of making a living, many of them are forced to resort to illegitimate ones, hence the robbers, gangsters, beggars and prostitutes and the numerous people who live on superstitious practices. This social stratum is unstable; while some are apt to be bought over by the reactionary forces, others may join the revolution. These people lack constructive qualities and are given to destruction rather than construction; after joining the revolution, they become a source of roving-rebel and anarchist ideology

in the revolutionary ranks. Therefore, we should know how to remould them and guard against their destructiveness." (Mao, 'The Chinese Revolution and the Chinese Communist Party')

लम्पट सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक चेतना से रिक्त होने को सुखविन्दर उसका वर्गरहित होना समझ बैठे हैं। राजनीतिक चेतना के इस अभाव के चलते लम्पट सर्वहारा वर्ग एक अज्ञात चर राशि है, जो बुर्जुआ वर्ग द्वारा जीते जाने पर सर्वहारा वर्ग और क्रान्ति के लिए बेहद ख़तरनाक हो सकता है, लेकिन क्रान्ति की शक्तियों द्वारा जीते जाने पर एक उपयोगी भूमिका निभा सकता है। एक बार फिर से सुखविन्दर दिखलाते हैं कि उन्हें सामाजिक वर्ग और राजनीतिक वर्ग (अपने हितों के प्रति सचेत) के बीच अन्तर नहीं पता है।

आगे बढ़ते हैं।

सुखविन्दर कहते हैं जगरूप ने जो सरप्लस सर्वहारा वर्ग की बात की है, वैसा शब्द मार्क्स ने इस्तेमाल नहीं किया है। यह सच है। मार्क्स ने सापेक्षिक अतिरिक्त आबादी (relative surplus population) की बात की है। लेकिन यह मूलत: और मुख्यत: रिज़र्व इण्डस्ट्रियल आर्मी से ही निर्मित होती है।

मार्क्स चार प्रकार की सापेक्षिक अतिरिक्त आबादी की बात करते हैं: पहला, फ्लोटिंग (तरल) अतिरिक्त आबादी, जो कि वे मज़दूर हैं जो कि कारखानों द्वारा कभी निकाले तो कभी काम पर रखे जाते हैं, लेकिन वे औद्योगिक जगत को छोड़कर नहीं जाते; दूसरा है लेटेण्ट (संभावनासम्पन्न) हिस्सा, जो कि वह हिस्सा होता है जो कि खेती और छोटे पैमाने के माल उत्पादन के क्षेत्र में पूंजीवादी विकास के साथ मुक्त होता है, लेकिन उसे तत्काल औद्योगिक क्षेत्र में नौकरी नहीं मिलती और उनका एक पांव गांव में होता है और पूंजीवादी खेती में भी मज़दूरी तलाशता है, और दूसरा पांव शहरों के औद्योगिक क्षेत्रों में होता है और वहां भी मज़दूरी तलाशता है, और अलग-अलग समय पर वह यह दोनों ही कार्य करता है, या उधार आदि लेकर कुछ खोमचा, फेरी, आदि लगाता है, या यदि वह ये तीनों ही कार्य नहीं कर पाता तो कालान्तर में दरिद्र आबादी के कतार में शामिल हो जाता है; तीसरा हिस्सा है स्टैग्नेण्ट (ठहरावग्रस्त), जो वह हिस्सा है जिसे आज हम शहरी अनौपचारिक फुटलूज़ मज़दूर वर्ग कहते हैं, जो कि कहीं भी नियमित रोज़गार नहीं पाता, बेहद कम मज़दूरी पर काम करने को मजबूर होता है; और आखिरी हिस्सा होता है दरिद्रीकृत हिस्सा जैसे बहेतू, घुमन्तू अपराधीकृत आबादी, वेश्याएं, भिखारी, काम करने में अक्षम या अनिच्छुक अमानवीकृत तत्व, काम में अक्षम विकलांग, लम्पट सर्वहारा आबादी, इत्यादि।

चौथे हिस्से को छोड़कर जो पहले तीन हिस्से हैं वह औद्योगिक सेना का ही अंग हैं, हालांकि रिज़र्व औद्योगिक सेना का। चौथे हिस्से का एक हिस्सा वैसे तो सामाजिक वर्ग के तौर पर मज़दूर वर्ग का ही हिस्सा है क्योंकि उसके पास अपनी श्रमशक्ति के अलावा कुछ भी नहीं है, लेकिन वह औद्योगिक रिज़र्व आर्मी का हिस्सा नहीं है, बल्कि दरिद्रीकृत हो, मार्क्स के शब्दों में, रिज़र्व इण्डस्ट्रियल आर्मी का का 'डेड वेट' (मृत बोझ) बन चुका है।

लेकिन यह सापेक्षिक अतिरिक्त आबादी मूलत: और मुख्यत: सर्वहारा वर्ग का ही हिस्सा है (यदि हम चौथे रूप के कुछ प्रकारों को छोड़ दें तो), हालांकि वह श्रम कि सक्रिय सेना (active army of labour) का नियमित रूप से अंग नहीं होता है। **लेकिन सुखविन्दर के लिए यह आबादी बिना वर्ग वाली बेरोज़गार आबादी है! यहां भी हम**

देख सकते हैं कि सुखविन्दर को मार्क्सवाद का 'क ख ग' भी नहीं पता है। वह अपना एक 'बिना वर्ग का' सिद्धान्त प्रतिपादित कर रहे हैं, जो कि मूर्खता और बौड़मपन में डोनाल्ड ट्रम्प की किसी भी मूर्खता का मुकाबला कर सकता है!

सुखविन्दर एक स्थान पर कहते हैं कि एक नौकरी से दूसरी नौकरी में जाने का काल ही बेरोज़गारी होती है। सुखविन्दर कहते हैं:

> "मान लीजिए, एक फैक्ट्री में 100 मज़दूर काम करते हैं। मालिक ने नई मशीन लाकर उनमें से आधे निकाल दिए, 50 रह गए। क्योंकि अब 50 मज़दूर ही 100 मज़दूर जितना काम कर सकते हैं। अब ये 50 मज़दूर बैठे तो नहीं रहेंगे न। ये किसी और सेक्टर में अपना काम ढूँढ़ेंगे। एक सेक्टर से निकलकर दूसरे सेक्टर में जाने के बीच का समय बेरोज़गारी है।"

यह भी ग़लत है। सुखविन्दर यहां जिस बेरोज़गारी का जिक्र कर रहे हैं वह एक विशेष प्रकार की बेरोज़गारी होती है, जिसे हम घर्षणीय बेरोज़गारी (frictional unemployment) कहते हैं। इसमें दोनों प्रकार के लोग होते हैं: वे जो अपनी इच्छा से पुराना रोज़गार छोड़कर बेहतर रोज़गार के विकल्प की तलाश करते हैं और वे भी जो किसी सेक्टर में नौकरी से निकाल दिये जाते हैं, लेकिन अपनी कुशलता के आधार पर रोज़गार प्राप्त करने की एक निश्चितता उनके लिए मौजूद होती है। **लेकिन इसके अलावा ढांचागत बेरोज़गारी होती है, जोकि पूंजी द्वारा विकर्षित कर दिए गए मज़दूरों से बनती है, जिनमें से एक अच्छी-खासी आबादी ऐसे मज़दूरों की भी होती है, जिन्हें कभी कोई पक्का रोज़गार मिलता ही नहीं, और वह छोटे-मोटे काम करके, दिहाड़ी व बेलदारी करके अनौपचारिक मज़दूर के तौर पर ही अपना जीवन बिता देते हैं। सुखविन्दर ने केवल फ्रिक्शनल बेरोज़गारी को समूची बेरोज़गारी का पर्याय और परिभाषा मान लिया है, जो फिर से इस विषय में उनके अज्ञान को अनावृत्त कर देता है।** साथ ही, आम तौर पर उन्नत औद्योगिक सेक्टरों में मज़दूर निकाले जाने पर एक सेक्टर से दूसरे सेक्टर में कम ही जाते हैं और ऐसा अनिवार्य भी नहीं है जैसा कि सुखविन्दर को फ्रिक्शनल बेरोज़गारी के मामले में लगता है। आम तौर पर, वे सबसे पहले तो उसी सेक्टर के किसी अन्य कारखाने में रोज़गार तलाशते हैं और अन्त में न खोज पाने पर ही किसी अन्य सेक्टर में जाने के बारे में सोचते हैं।

छोटे कार्यदिवस की मांग के विषय में सुखविन्दर का सिद्धान्त-प्रतिपादन: पिछलग्गूपन, लोकरंजकतावाद और अनपढ़पन की एक मिसाल

आगे सुखविन्दर छोटे कार्यदिवस की मांग के विषय में अपने विचार पेश करते हैं, जो कि उनके टटपुंजिया पिछलग्गूवाद (petty-bourgeois tailism) और लोकरंजकतावाद (populism) को पूरी तरह से उघाड़ कर रख देते हैं।

सुखविन्दर को यह लगता है कि राजनीतिक मांगपत्रक में कार्यदिवस छोटा करने की मांग आज की स्थिति में इसलिए नहीं होनी चाहिए क्योंकि आज मज़दूर वर्ग खुद ही इसके लिए तैयार नहीं है और कम मज़दूरी और बेरोज़गारी के कारण काम के घण्टों को कम करने की बजाय काम के घण्टे बढ़ाने की मांग कर रहा है। यह

एकदम व्यवहारवादी और पिछलग्गूवादी सोच है। हर मांग या नारे को उठाने का लक्ष्य उसके तत्काल पूरा हो जाने या मज़दूर वर्ग में तत्काल उसके प्रति समर्थन जुट जाने की सम्भावना पर आधारित नहीं होता है। सुखविन्दर कहते हैं:

> "आज तो आपको यह कहना पड़ेगा न, पहले तो काम दिहाड़ी छोटी करने की लड़ाई लड़ने के लिए आपको ठेका प्रथा खत्म करने की लड़ाई लड़नी पड़ेगी। कि लोगों को पक्का रोज़गार दो। पक्के रोज़गार के बाद यह लड़ाई एजण्डा पर आएगी कि काम दिहाड़ी छोटी करो। दूसरी बात, क्रान्ति किसी सेट पैटरन पर नहीं होती है कि इसी मांग पर होना है। फरवरी क्रान्ति में (छोटे कार्यदिवस का) नारा दिया, इसके (जगरूप के) अनुसार, हालांकि इसकी हम पुष्टि करेंगे।"

पहली बात तो यह है कि कार्यदिवस छोटा करने की मांग का ठेका प्रथा खत्म करने और सबको पक्का रोज़गार देने के संघर्ष से ऐसा कोई सीधा कारणात्मक सम्बन्ध नहीं है कि ठेका प्रथा व रोज़गार गारण्टी की मांग को उठाए बिना कार्यदिवस को छोटा करने की मांग को न उठाया जा सके। ठेका प्रथा खत्म करने की मांग का रिश्ता औपचारिक व पक्के रोज़गार को सुनिश्चित करने से है जबकि रोज़गार गारण्टी की मांग सभी के लिए काम के हक़ (right to work) से जुड़ती है। कार्यदिवस छोटा करने की मांग एक मानवीय जीवन की मांग है और साथ ही कुल उत्पादित मूल्य में मज़दूर वर्ग के हिस्से को बढ़ाने की मांग है। इसे बिल्कुल अलग से उठाया जा सकता है और उठाया जाना चाहिए।

सुखविन्दर की यह समझ में नहीं आता है कि कम्युनिस्ट सारी मांगें इसलिए नहीं उठाते हैं कि उनके पूंजीवादी व्यवस्था के भीतर पूरा हो जाने या फिर मज़दूर वर्ग के उन पर तत्काल सहमत हो जाने की सम्भावना होती है। कुछ मांगें इसलिए उठाई जाती हैं क्योंकि पूंजीवादी जनवाद के दायरे में उन्हें पूरा किया जा सकता है, जबकि कुछ अन्य ठीक इसीलिए उठाई जाती हैं क्योंकि वे पूरी नहीं हो सकती हैं और न ही जनता तत्काल उनसे सहमत हो जाती है, लेकिन वह जनता का राजनीतिक शिक्षण करती हैं।

आज काम के घण्टे कम करने की मांग का बेशक एक जनवादी मांग के तौर पर प्रचार किया जाना चाहिए और मज़दूरों को यह समझाया जाना चाहिए कि क्यों यह मांग सही है। **वैसे तो रोज़गार भी सभी को पूंजीवाद के मातहत नहीं मिल सकता है और न ही सभी मज़दूर इस पर सहज सहमत होते हैं (कई मज़दूरों को भी लगता है कि सबको रोज़गार की मांग करना शेखचिल्लीवाद है!) लेकिन फिर भी हम सभी को रोज़गार की मांग उठाते हैं!**

साथ ही सभी जनवादी मांगों को एक जनवादी क्रान्ति के तात्कालिक कार्यक्रम में तो कतई उठाया जाना चाहिए जैसे कि कार्यदिवस 8 घण्टे का करने की मांग, यूनियन बनाने के अधिकार की मांग, इत्यादि। सुखविन्दर को लगता है कि फरवरी क्रान्ति में बोल्शेविकों ने 8 घण्टे के कार्यदिवस की मांग की थी या नहीं, यह जांचना पड़ेगा, उन्हें शक़ है! **विडंबना यह है की, जगरूप यहाँ पर सही है, और एक बार फिर से सुखविंदर ने रूसी क्रांति के इतिहास के बारे में अपनी अज्ञानता को जाहिर किया है। बोल्शेविकों ने यह नारा समूची जनवादी क्रान्ति की मंजिल के लिए अपने कार्यक्रम में शामिल किया था। जनवादी क्रान्ति की मंजिल में मज़दूरों की विशिष्ट मांगों में आठ घण्टे का कार्यदिवस केन्द्रीय महत्व रखता था और लेनिन ने 1890 के दशक के मध्य में ही जनवादी क्रान्ति की मंजिल में**

इस मांग की महत्व को विशेष रूप से रेखांकित किया था और अन्य तमाम लेखों के अलावा 1909 और 1912 के लेखों, क्रमशः, 'आठ घण्टे के कार्यदिवस पर बिल के प्रमुख आधार', 'मॉस्को गुबेर्निया के कारखानों में कार्यदिवस' तथा 'मॉस्को गुबेर्निया में कार्यदिवस व कार्यवर्ष', में इसे खास तौर पर स्पष्ट किया है। 1917 की जनवरी में 1905 की क्रान्ति पर व्याख्यान देते हुए लेनिन बताते हैं कि एक जनवादी क्रान्ति में आठ घण्टे के कार्यदिवस की मांग स्वाभाविक तौर पर केन्द्रीय मांग होती है:

> "The peculiarity of the Russian revolution is that it was a *bourgeois-democratic* revolution in its social content, but a *proletarian* revolution in its methods of struggle. It was a bourgeois-democratic revolution since its immediate aim, which it could achieve directly and with its own forces, was a democratic republic, the eight-hour day and confiscation of the immense estates of the nobility." (Lenin, 'Lecture on the 1905 Revolution', January 1917, *emphasis ours*)

फरवरी क्रान्ति के ठीक बाद लेनिन ने 4 (17) मार्च की अपनी मसौदा थीसिस में फिर से आठ घण्टे के कार्यदिवस को जनवादी क्रान्ति की मंजिल की एक केन्द्रीय मांग बताया और आरज़ी सरकार की इस मांग पर की गयी धोखाधड़ी की ओर ध्यानाकर्षित किया:

> "The new government's programme does not contain a single word on **the eight-hour day or on any other economic measure to improve the worker's position.** It contains not a single word about land for the peasants, about the uncompensated transfer to the peasants of all the estates. By its silence on these vital issues the new government reveals its capitalist and landlord nature." (Lenin, 'Draft Theses', March 4 (17), 1917, *emphasis ours*)

ऐसे दर्जनों उद्धरण दिये जा सकते हैं। सवाल यह है कि ऐसी सामान्य सी बात पर किसी पढ़े-लिखे मार्क्सवादी होने का दावा करने वाले व्यक्ति को शक़ भी कैसे हो सकता है कि जनवादी क्रान्ति की मंजिल में आठ घण्टे के कार्यदिवस की मांग नैसर्गिक रूप से एक केन्द्रीय मांग बनती है? ज़ाहिर है कि सुखविन्दर ने रूसी क्रांतियों का इतिहास तक नहीं पढ़ा है, और यह निश्चित तौर पर थोड़ा शर्मनाक बात है कि जगरूप जैसा एक संशोधनवादी बुद्धिजीवी रूसी क्रान्तियों के इतिहास के विषय में उनसे ज्यादा जानकारी रखता है, हालांकि उसकी विचारधारा और राजनीति भयंकर रूप से दीवालिया है, जैसा कि हर संशोधनवादी की होती है। सुखविन्दर को यह पता तक नहीं है कि फरवरी क्रान्ति में बोल्शेविकों ने 8 घण्टे के कार्यदिवस का नारा दिया था या नहीं। वह कहते हैं:

> "उसकी (जगरूप की) हर बात की पुष्टि कर लेनी चाहिए, लेकिन मैंने इस बात की पुष्टि नहीं की है कि रूस की पार्टी ने नारा दिया था या नहीं। चलिए, मान लेते हैं कि दिया था, पर अक्टूबर क्रान्ति का यह नारा ही नहीं था।"

यह भी ग़लत है। अक्टूबर क्रान्ति ने आठ-घण्टे के कार्यदिवस की स्थापना की थी और लेनिन के लेखन में आपको इस बात का सन्दर्भ मिलता है कि गृहयुद्ध की आपात स्थिति के बाद धीरे-धीरे इसे घटाते हुए पहले सात और फिर छह घण्टे पर ले जाने का लक्ष्य रखा गया था। समाजवादी निर्माण के दौर में असल बात यह थी कि इस कार्यभार में अपने वर्ग के अनुशासन के नियमों को निर्धारित करने का कार्य कोई पूंजीपति वर्ग नहीं बल्कि स्वयं सर्वहारा वर्ग अपने हिरावल के नेतृत्व में कर रहा था। ऐसा नहीं था कि आठ-घण्टे के कार्यदिवस को अक्टूबर क्रान्ति ने स्थापित नहीं किया था। वास्तव में गृहयुद्ध के दौरान जहां तात्कालिक तौर पर बोल्शेविकों को पराजय के सामना करना पड़ा था, वहां पर किस प्रकार कुलक व पूंजीपति वर्ग की ताकतें सोवियत सत्ता द्वारा स्थापित आठ घण्टे के कार्यदिवस को समाप्त कर रही थीं, इसके बारे में लेनिन लिखते हैं:

> "But what do we find in these places rising out of the ruins of the Soviets? The complete triumph of the capitalists and landowners, and groans and curses from the workers and peasants. The land has been returned to the nobility and the mills and factories to their former owners. **The eight-hour day has been abolished, the workers' and peasants' organisations suppressed, and the tsarist Zemstvos and the old police regime restored instead."** (Lenin, 'Speech at a meeting in Basmanny District', August 30, 1918, *emphasis ours*)

यहां सुखविन्दर एक बार फिर दिखलाते हैं कि उन्होंने रूसी क्रान्ति के इतिहास का कोई गम्भीर अध्ययन नहीं किया है। अन्यथा, ये ऐसे तथ्य हैं जिनके बारे में कम्युनिस्ट आन्दोलन व क्रान्तियों के इतिहास के बारे में आम जानकारी रखने वाला व्यक्ति भी जानता है। साथ ही, जगरूप की हर बात को तो चेक कर ही लेना चाहिए, लेकिन सुखविन्दर की हर बात को और ज्यादा गम्भीरता से डबल चेक कर लेना चाहिए, हालांकि उससे एक समस्या यह पैदा होती है कि आपको यह तो पता चल ही जाता है कि मार्क्सवाद में ऐसा कहीं नहीं लिखा जैसा कि सुखविन्दर बोल रहे हैं, मगर आखिर ऐसी मूर्खतापूर्ण बातें लिखीं किसने हैं, जहां से पढ़कर सुखविन्दर ये बातें बोलते हैं!

आगे बढ़ते हैं।

सुखविन्दर लिखते हैं:

> "समाजवादी क्रान्ति छोटी काम दिहाड़ी की मांग पर थोड़ा न हुई थी। वह हुई रोटी और शान्ति पर। युद्ध चल रहा था, सैनिक शान्ति चाहते थे। सैनिकों में ज़्यादातर किसान थे। युद्ध का खात्मा चाहते थे रूसी लोग। भुखमरी थी, इसलिए रोटी। इस नारे पर क्रान्ति हुई, छोटी काम दिहाड़ी कहाँ थी वहाँ अक्टूबर क्रान्ति में। छोटी काम दिहाड़ी होनी चाहिए, नंबर एक, यह एक प्रॉपेगेण्डा स्लोगन हो सकता है। मतलब, पार्टी के दो तरह के नारे होते हैं। एक होते हैं - एक्शन स्लोगन, कार्रवाई का नारा, हमें जनता को कार्रवाई में डालना है। एक होता है प्रॉपेगेण्डा स्लोगन, हम जनता में प्रचार-प्रसार के लिए यह नारा देते हैं। जनता की चेतना को

उन्नत करने के लिए। दो तरह का नारा होता है, एक इमिडिएट होते है, जिस पर जनता कार्रवाई में आती है और एक होता है अल्टिमेट। कम्युनिस्ट पार्टी अल्टिमेट, अंतिम लक्ष्य और फौरी लक्ष्य में तालमेल करती है। जिसका कोई अंतिम लक्ष्य न हो, वह पार्टी सुधारवादी है, वह इमिडिएट में उलझी हुई है। जो अल्टिमेट की बात करी जा रही है, वह प्रचारवादी है, Vanguradist है। वह कभी भी जनता के साथ नहीं जुड़ पाएगी। फिर, अगर 8 घंटे की काम दिहाड़ी पर आज दुनिया में कुछ हो सकता है, तो फिर आठ घंटे की दिहाड़ी के लिए क्यों सीधा समाजवाद के लिए लड़ लो। समाजवाद मांग लो बुर्जुआज़ी से कि हमें समाजवाद दे दो। आज 8 घंटे की काम दिहाड़ी के लिए, 6 घंटे में ... मज़दूर हंसी निकलवा देता है।"

इतने से पैरा में इतनी ग़लतियां!

पहली बात तो यह है कि रूसी क्रान्ति का तात्कालिक *एजिटेशनल नारा* था रोटी और शान्ति, क्योंकि तात्कालिक तौर पर यदि युद्ध और भुखमरी से निजात नहीं मिलती तो देश ही तबाह हो जाता। लेकिन, यह रूसी क्रान्ति यह स्ट्रैटेजिक या कार्यक्रम-सम्बन्धी नारा नहीं था। वह था राष्ट्रीकरण और समूची अर्थव्यवस्था की राष्ट्रीय एकाउंटिंग व मज़दूर नियंत्रण। युद्ध द्वारा पैदा विशिष्ट परिस्थितियों में अब राष्ट्रीकरण और समाजवादी सत्ता ही देश को आपदा से बचा सकती थी। **इसके लिए युद्ध से अलग होना और अकाल से निपटना *तात्कालिक प्रश्न* था, इसलिए शान्ति और रोटी का तात्कालिक लोकप्रिय नारा दिया गया था, जिसके पीछे मूल नारा था निजी मालिकाने का खात्मा, मजदूर वर्ग का नियंत्रण, और समूची अर्थव्यवस्था की राष्ट्रीय अकाउंटिंग (राष्ट्रीकरण के मध्यवर्ती कदम के तौर पर)।**

दूसरी बात, तीन प्रकार के नारे होते हैं दो प्रकार के नहीं: पहला, प्रोपगैण्डा स्लोगन, जिसका काम होता है समाजवाद और मज़दूर सत्ता का प्रचार, जैसे कि समस्त अर्थव्यवस्था का राष्ट्रीकरण; यह कार्य पूंजीवाद के दायरे में नहीं हो सकता है, लेकिन यह एक अहम प्रचारात्मक नारा है, जो जनता को शिक्षित करता है। दूसरा, उद्वेलनात्मक (एजिटेशनल) नारा, जिसका मकसद होता है किसी भी विशिष्ट मुद्दे पर जनता को उद्वेलित करना, गोलबन्द करना, संगठित करना। और तीसरा है एक्शन स्लोगन, जैसे "दिल्ली चलो"। यह एक कार्रवाई पर अमल का नारा है।

तीसरी बात, जैसा कि हमने पहले बताया, हर नारा देने के पीछे कम्युनिस्टों की यह सोच नहीं होती कि उस पर तुरन्त जनता सहमत होती है या नहीं, या कि, नारे द्वारा उठाई जा रही मांग पूंजीवाद के दायरे के भीतर पूरी हो सकती है या नहीं। कुछ नारे शुद्धत: इसलिए उठाए जाते हैं कि वे हमें जनता को शिक्षित करने का अवसर देते हैं और पूंजीवाद को एक्सपोज़ करते हुए उसके सीमान्तों को उजागर करने का अवसर देते हैं। ऐसे नारे उठाने में कम्युनिस्ट एक हिरावल के समान जनता से दो कदम आगे चलते हैं, लेकिन बीस कदम आगे नहीं। बीस कदम आगे चलना हिरावलपंथ है। दो कदम आगे नहीं चलना पुछल्लावाद (tailism) है।

आज मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने के लिए यह एक बेहद उपयोगी नारा है कि कार्यदिवस को छह घण्टे पर लाया जाय। इसे उत्पादकता-सम्बन्धी आंकड़ों, 93 फीसदी मज़दूर आबादी द्वारा 10 घण्टे से भी ज्यादा के कार्यदिवस के आंकड़ों व अन्य आंकड़ों से सिद्ध किया जा सकता है कि आज छह घण्टे के कार्यदिवस के साथ समाज की सारी आवश्यकताओं को पूर्ण किया जा सकता है। आज तो आठ घण्टे का कार्यदिवस भी नहीं मिल रहा है। ऐसे में,

तात्कालिक तौर पर हम आठ घण्टे के कार्यदिवस को लागू करने की मांग करते हैं। लेकिन इस मांग का कोई विशेष शैक्षणिक राजनीतिक महत्व नहीं है क्योंकि हम कानूनी तौर पर मिले हुए एक अधिकार को लागू करवाने की मांग कर रहे हैं। **वह मांग जो व्यवस्था के संविधान व कानून द्वारा प्रदत्त मांगों की सीमाओं का अतिक्रमण करती है और इस रूप में व्यवस्था के सीमान्तों को भी उजागर करती है, केवल वही एक राजनीतिक शैक्षणिक भूमिका अदा कर सकती है। इस रूप में आज छह घण्टे के कार्यदिवस की मांग कतई उठाई जानी चाहिए और खासकर तब जबकि यह दुनिया में कई उन्नत साम्राज्यवादी देशों में लागू हो गयी है। हमारे पास इसी दुनिया में इसके उदाहरण हैं।**

इसलिए सुखविन्दर का दृष्टिकोण यहां पर एक टटपुंजिया पुछल्लेवाद और लोकरंजकतावाद का है न कि एक कम्युनिस्ट हिरावल दृष्टिकोण।

समाजवादी व्यवस्था के राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सुखविन्दर द्वारा फहराई गई पताकाएं

अब थोड़ा विचार समाजवाद के राजनीतिक अर्थशास्त्र के विषय में सुखविन्दर की समझदारी पर भी कर लेते हैं। क्योंकि इस विषय में सुखविन्दर ने जो पताकाएं फहराई हैं, वह ग़ज़ब ही हैं।

सुखविन्दर कहते हैं:

> "समाजवाद में पूँजी पूँजी नहीं रह जाएगी। वह तो खत्म हो जाएगी। यानी यह सामाजिक संबंध खत्म हो जाएगा। अतिरिक्त मूल्य वहाँ होगा। अतिरिक्त मूल्य दो तरह का होगा। जैसे जगरूप तो कहता है कोई अतिरिक्त मूल्य होगा ही नहीं, यह तो गलत है। अतिरिक्त मूल्य होगा वह सारे समाज के भले के लिए इस्तेमाल होगा। नंबर 2, वहाँ लूट होगी। क्योंकि पूरी तरह जो लूट समाप्त होनी है, वह अगली मंज़िलों में जाकर समाप्त होनी है, कम्युनिज़्म में जाकर होनी है। अभी हमें इसमें बहुत विस्तार में नहीं जाना है।"

बिल्कुल ग़लत! बिना पूंजी व पूंजी-सम्बन्ध (capital-relation) के अतिरिक्त मूल्य की बात ही नहीं की जा सकती है। पहली बात तो यह है कि अतिरिक्त मूल्य की श्रेणी ही समाजवादी समाज में समाप्त हो जाती है। इसकी वजह यह है कि श्रमशक्ति माल नहीं रह जाती है। यदि श्रमशक्ति माल है ही नहीं और मज़दूरी इस अनुसार तय होती है कि कौन कितनी श्रम की मात्रा देता है, तो अतिरिक्त मूल्य की श्रेणी ही समाप्त हो जाती है। क्योंकि अतिरिक्त मूल्य और कुछ नहीं है बल्कि श्रमशक्ति द्वारा पैदा किये गये मूल्य और श्रमशक्ति के मूल्य का अन्तर है।

श्रमशक्ति केवल तब तक माल होती है, जब तक उत्पादन के साधनों का स्वामित्व पूंजीपति वर्ग की इजारेदारी में होता है। जैसे ही यह सामाजिक सम्बन्ध यानी यह पूंजी-सम्बन्ध (capital-relation) समाप्त होता है, वैसे ही अतिरिक्त मूल्य की श्रेणी में समाप्त हो जाती है। समाज की आवश्यकता से अधिक पैदावार को हम सामाजिक अधिशेष कह सकते हैं, लेकिन पूंजीवादी व अन्य शोषक समाजों के समान यह उत्पादक के श्रमकाल के अनिवार्य श्रमकाल व अतिरिक्त श्रमकाल में विभाजन से तय नहीं होता है क्योंकि उसमें अतिरिक्त श्रमकाल का अर्थ वह श्रमकाल होता है जिसमें कि वह अतिरिक्त उत्पाद पैदा होता है, जिसे परजीवी शोषक-शासक वर्ग हड़प लेते हैं, जो कि स्वयं कोई श्रम नहीं करते। समाजवादी समाज में यह अतिरिक्त उत्पाद भी सामाजिक फण्ड में जाता है और

उसके उपयोग के विषय में भी सारे निर्णय सर्वहारा राज्यसत्ता लेती है, जिसका प्रमुख उपकरण मज़दूर वर्ग की हिरावल पार्टी होती है। यही वजह है कि समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वहारा वर्ग और समूची मेहनतकश जनता के जीवन स्तर में क्रान्तिकारी छलांग लगती है।

अतिरिक्त मूल्य के सम्बन्ध की अवधारणा तब तक ही अर्थपूर्ण होती है, जब तक कि इसका हस्तगतीकरण पूंजीपति वर्ग द्वारा किया जाय। इसके बिना यह अवधारणा समाप्त या बेमतलब हो जाती है। यह उत्पाद के हिस्सों का कोई मात्रात्मक/परिमाणात्मक सम्बन्ध नहीं है, बल्कि एक सामाजिक सम्बन्ध है। **सुखविन्दर का यह कहना कि समाजवाद में अतिरिक्त मूल्य होता है, का यह अर्थ होगा कि उसमें मुनाफे की श्रेणी, मुनाफे के औसत दर की श्रेणी आदि मौजूद होगी जो कि उत्पादन और सामाजिक श्रम विभाजन को निर्धारित करेंगी। यह बिल्कुल ग़लत है और सिर्फ ग़लत ही नहीं, बल्कि मूर्खतापूर्ण रूप से संशोधनवाद की ओर ले जाता है, जिसका खण्डन करने के लिए हमारे दोन किहोते गत्ते की तलवार लेकर निकले हैं!**

देखें स्तालिन इस विषय में क्या कहते हैं:

> "Absolutely mistaken, therefore, are those comrades who allege that, since socialist society has not abolished commodity forms of production, we are bound to have the reappearance of all the economic categories characteristic of capitalism: **labour power as a commodity, surplus value, capital, capitalist profit, the average rate of profit, etc. These comrades confuse commodity production with capitalist production, and believe that once there is commodity production there must also be capitalist production. They do not realize that our commodity production radically differs from commodity production under capitalism."** (Stalin, 'Economic Problems of Socialism in the USSR', *emphasis ours*)

राजनीतिक अर्थशास्त्र की शंघाई टेक्स्टबुक में बहुत सारी ग़लतियां हैं, लेकिन इस प्रश्न पर उसमें भी सही दृष्टिकोण पेश किया गया है:

> "In capitalist society, the laborer is used in the production process as labor power by the capitalist. Through the use of labor power, the capitalist extracts as much surplus value from the laborer as possible. The laborer is merely a paid slave. The capitalist is the real master. This leads to acute opposition between the worker and the capitalist. In socialist society, the role of the laborers in the production process is completely different. They participate in the production process as masters. They create wealth for society through conscious labor." (Fundamentals of Political Economy, The

Shanghai Textbook)

शंघाई टेक्स्टबुक में ही आगे लिखा गया है:

> "Therefore, the distribution of the new value created by the producer into the labor remuneration fund and the social fund under the socialist system is fundamentally different from the distribution of the new value created by the worker into wages and surplus value under the capitalist system. Under the capitalist system, labor *(it is a slip, as it is labour-power that is commodity, not labour-Abhinav)* is a commodity and is subject to the law of value. Wage means the price of labor power. No matter how large the newly created value is, the part that belongs to the worker himself is only equal to the value of those means of livelihood necessary for the reproduction of labor power. The rest, namely, the surplus value, is not only possessed by the capitalist, but is used as a means to increase the exploitation of the worker. **Under the socialist system, labor power is no longer a commodity. The laborer is no longer exploited. All of the value created by the producer is at the service of the laboring class. The distribution of the labor remuneration fund of the producer and the social fund is regulated by an overall consideration of common and individual interests and the long-term and short-term interests of the laboring people."** (ibid, *emphasis ours*)

समाजवाद में मूल्य का नियम कार्य करना बन्द नहीं करता, क्योंकि जबतक समाजवादी सम्पत्ति सम्बन्ध के उच्चतम रूप यानी राजकीय सम्पत्ति (सर्वहारा अधिनायकत्व के मातहत) नहीं पैदा होते, जब तक मानसिक श्रम व शारीरिक श्रम, शहर व गांव तथा उद्योग व कृषि के विभेद समाप्त नहीं हो जाते, तब तक विनिमय सम्बन्ध बने रहते हैं, माल उत्पादन होता है, और इसलिए मूल्य का नियम भी कार्य करता है। लेकिन समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों के उच्चतर धरातल पर विकसित होने के साथ मूल्य का नियम अधिक से अधिक विनियमित (regulate) होता है और नियंत्रित व सीमित होता जाता है। दीर्घकालिक तौर पर यह प्रक्रिया यदि पलटती है तो यह अर्थव्यवस्था में पूंजीवादी तत्वों को फिर से जन्म दे सकता है और राज्यसत्ता में बुर्जुआ हेडक्वार्टर के विकसित होने की ओर जा सकता है। लेकिन जब तक सर्वहारा अधिनायकत्व कायम है और राजकीय व सामूहिक सम्पत्ति कायम है, तब तक हम माल उत्पादन व मूल्य के नियम के विनियमित प्रकार्य (regulated function) की बात तो कर सकते हैं, **लेकिन अतिरिक्त मूल्य की नहीं।**

पूंजी-सम्बन्ध के बहाल हुए बगैर (जिसे निजी सम्पत्ति की पुनर्स्थापना से गड्डमड्ड नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि राजकीय सम्पत्ति के बने रहते हुए भी एक विजातीय शक्ति द्वारा अधिशेष विनियोजन के ज़रिये पूंजी-सम्बन्ध का

बहाल होना सम्भव है, यदि राज्य का चरित्र सर्वहारा नहीं रह जाता है) माल उत्पादन सम्भव है क्योंकि वह पूंजीवाद और पूंजी सम्बन्ध के आने से पहले भी मौजूद था, विनिमय सम्बन्धों की बात की जा सकती है और सीमित व विनियमित अर्थों में मूल्य के नियम के काम करने की भी बात की जा सकती है, लेकिन अतिरिक्त मूल्य की बात नहीं की जा सकती है।

दूसरी बात, समाजवादी अर्थव्यवस्था में लूट होगी, यह भी ग़लत है। लूट की अवधारणा ही एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के अतिरिक्त श्रम के उत्पाद के अधिग्रहण पर निर्भर करती है। समाजवाद में कोई शत्रु वर्ग (बुर्जुआजी) सर्वहारा वर्ग के श्रमशक्ति का शोषण नहीं करता है, उसके उत्पाद को अधिग्रहीत नहीं करती है। यह सर्वहारा राज्य, कलेक्टिव व सहकारी उपक्रम हैं जो कि सर्वहारा राज्य के नेतृत्व में समूचे सामाजिक उत्पादन के वितरण के सम्बन्ध में फैसला लेते हैं। अलगाव की परिघटना पूंजीवादी अर्थों में मौजूद नहीं रह जाती है और केवल उस रूप में मौजूद रहती है जिस रूप में पार्टी व राज्यसत्ता तथा वर्ग के बीच एक अन्तर मौजूद रहता है जो कि शारीरिक व मानसिक श्रम के बीच के अन्तर व अन्य अन्तरवैयक्तिक असमानताओं की ही अभिव्यक्ति है। यह समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों के सतत् क्रान्तिकारी रूपान्तरण की प्रक्रिया के जारी न रहने पर राज्य व अर्थव्यवस्था में बुर्जुआ तत्वों के हावी होने और पूंजीवादी पुनर्स्थापना में भी परिणत हो सकते हैं। लेकिन समाजवादी संक्रमण के दौरान अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने की सूरत में समाजवाद से कम्युनिस्ट व्यवस्था में संक्रमण सम्भव है। **लेकिन जब तक पूंजीवादी पुनर्स्थापना नहीं होती है, तब तक हम क्लासिकीय अर्थों में अलगाव की बात नहीं कर सकते हैं और शोषण या लूट की तो कतई बात नहीं कर सकते हैं क्योंकि राज्यसत्ता के चरित्र के सर्वहारा रहते हुए और समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों के बहाल रहते हुए लूट या शोषण की बात करना निहायत अन्तरविरोधपूर्ण नतीजों तक ले जायेगा।**

इसलिए सुखविन्दर की यह बात एकदम ग़लत है कि लूट समाजवादी व्यवस्था में मौजूद होती है और वह पूरी तरह कम्युनिज्म आने पर समाप्त होती है। कम्युनिज्म आने पर जो परिवर्तन होता है वह है माल उत्पादन, विनिमय सम्बन्धों, मूल्य के नियम का पूरी तरह खात्मा और उत्पादन का प्रचुरता की मंजिल में पहुंचना, जबकि 'सभी से उनकी क्षमता के अनुसार व सभी को उनकी आवश्यकता के अनुसार' का सिद्धान्त लागू होना सम्भव हो जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह तभी सम्भव होगा जबकि तीन अन्तरवैयक्तिक असमानताएं समाप्त हों और वह तभी हो सकता है जबकि सांस्कृतिक क्रान्तियों के ज़रिये 'सतत् क्रान्ति' को जारी रखते हुए विचारधारा के क्षेत्र में सर्वहारा विचारधारा के सुदृढ़ वर्चस्व को स्थापित किया जाए और उत्पादन सम्बन्धों का क्रान्तिकारी रूपान्तरण जारी रखा जाय।

लेकिन सुखविन्दर समाजवाद के आर्थिक नियमों के बारे में पूरी तरह अनभिज्ञ हैं और एकदम मूर्खतापूर्ण बात बोल रहे हैं जिनका मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं है।

मार्क्सवादी संकट सिद्धान्त पर सुखविन्दर का बौद्धिक चर्वण जारी है

अब एक बार फिर से सुखविन्दर के संकट के सिद्धान्त की "समझदारी" पर आते हैं।

संकट के बारे में सुखविन्दर कहते हैं:

> "और, जो पूँजीवाद का संकट होता है, इसके दोनों पक्ष होते हैं। यह संकट भी है और बुर्जुआज़ी की संकट से निजात भी है। संकट क्या है? बहुत ज़्यादा उत्पादन करने वाले हो गए। संकट में बहुत से उजड़ जाते हैं। कुल मिलाकर उत्पादनकर्ता ही कम हो जाते हैं। उत्पादन की प्रक्रिया फिर से शुरू हो जाती है। नए सिरे से गति शुरू हो जाती है। ज़्यादा-कम का संकट सफाया कर देता है। यह है कि बेरोज़गारी पूँजीवाद में स्थाई होती है।"

यह बिल्कुल ग़लत है। पूंजीवादी संकट का अनिवार्यत: यह अर्थ नहीं होता है कि उत्पादन करने वाले बहुत हो गये। ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी। पूंजी का अवमूल्यन (devaloriazation of capital) पूंजी के केन्द्रों यानी magnates of capital की संख्या में कमी आए बग़ैर भी हो सकता है। ज्ञात हो कि यह पूंजी का अवमूल्यन ही है, जो कि पूंजीवाद को संकट से निजात दिलाने में एक अहम भूमिका निभाता है। मिसाल के तौर पर, पहले से इजारेदारीकृत सेक्टरों में संकट के फलस्वरूप भी पूंजियों की संख्या में कोई कमी नहीं आती है। इनमें मौजूद पूंजियां ही उत्पादन को कम करती हैं, मज़दूरों की छंटनी करती हैं, तालाबन्दी की लहर चलती है, मशीनें रुक जाती हैं और बेकार पड़ी रहती हैं और इस प्रकार पूंजी का अवमूल्यन, उत्पादक शक्तियों का विनाश और मज़दूरों की औसत मज़दूरी में गिरावट मुनाफे की उच्च दर पर निवेश के नये अवसर पैदा करती हैं। सुखविन्दर संकट के तमाम लक्षणों में से एक को संकट की कारणात्मक व्याख्या के तौर पर पेश कर रहे हैं। यह पूंजियों की संख्या में बढ़ोत्तरी या कमी नहीं है, जो अपने आप में संकट पैदा करने या खत्म करने की भूमिका निभाती है, बल्कि यह पूंजी का अतिसंचय है, जो मुनाफे की औसत दर में गिरावट और नतीजतन संकट में परिणत होता है। इसके लक्षण के तौर पर कई बार पूंजियों की संख्या में भी कमी आ सकती है, लेकिन अनिवार्यत: नहीं।

दूसरी बात, संकट एक ओर कई मामलों में पूंजियों की संख्या को घटाता भी है, लेकिन संकट पूंजियों की संख्या के घटने का परिणाम भी होता है। पूंजी के आवयविक संघटन में बढ़ोत्तरी पूंजी के केन्द्रीकरण व संकेन्द्रण (concentration and centralization of capital) के साथ ही सम्भव होती है। यानी यह स्वयं पूंजी के सतत् संकेन्द्रण व केन्द्रीकरण के कारण आवयविक संघटन का बढ़ना ही है जो कि पूंजीवादी संकट को जन्म देता है और कई मामलों में संकट के परिणामस्वरूप भी बाज़ार से कई पूंजियों का सफाया हो जाता है। लेकिन पूंजियों की संख्या ज्यादा होना या कम होना अपने आप में संकट का कारण या अर्थ नहीं है। इसलिए सुखविन्दर यदि यह सोचते हैं कि पूंजीवादी संकट का यह अर्थ है कि उत्पादन करने वाले ज़्यादा हो गये, तो यह पूंजीवादी संकट की कोई कारणात्मक व्याख्या नहीं है क्योंकि अनिवार्यत: ऐसा हो यह ज़रूरी नहीं है। संकट का अर्थ यह है कि आवयविक संघटन बढ़ने के कारण समूची अर्थव्यवस्था की मुनाफे की औसत दर नीचे गिर गयी है, क्योंकि समूची उत्पादन प्रक्रिया में जीवित श्रम की भूमिका मृत श्रम के मुकाबले कम होती जाती है और यह जीवित श्रम ही है जो कि नया मूल्य पैदा करता है और यह नया मूल्य ही है, जिसका एक हिस्सा कुल बेशी मूल्य या कुल मुनाफा होता है। यदि सापेक्षिक रूप से जीवित श्रम मृत श्रम के अनुपात में घटेगा तो मुनाफे की औसत दर अन्तत: गिरेगी ही और कुछ मामलों में कुल मुनाफ़ा भी घट सकता है।

सुखविन्दर एक बार फिर से अल्पउपभोगवाद की खबर लेने लौटते हैं, लेकिन पता यह चलता है कि वह स्वयं ही अल्पउपभोगवाद के शिकार हैं!

सुखविन्दर एक ऐसे अचेत अल्पउपभोगवादी (unconscious underconsumptionist) हैं, जो इस मुग़ालते में है कि वह अल्पउपभोगवाद का खण्डन करता है! यह प्रक्रिया घटित होते हुए देखना काफी मनोरंजक होता है। आइये देखते हैं।

सुखविन्दर कहते हैं:

> "उपभोग के क्षेत्र में संकट का स्रोत है या उत्पादन में। उत्पादन में है। पूँजीवादी संकट मुनाफ़े के कम होने का संकट होता है, न कि इसका संकट कि उपभोग कम हो रहा है। क्योंकि अगर पूँजी बढ़ती है तो रोज़गार तो बढ़ रहा होता है, उजरत बढ़ रही होती है। उपभोग तो बढ़ रहा होता है न समाज में। पर मुनाफ़ा नीचे जा रहा होता है। प्रोफिटेबिलिटी नीचे जा रही होती है। उसके लिए वे और अधिक अतिरिक्त मूल्य हथियाने के लिए और उन्नत टेक्नोलोजी लेकर आते हैं, उसके साथ ओवर-प्रोडक्शन आती है। उन्नत से उन्नत टेक्नोलोजी के साथ अतिरिक्त उत्पादन, उसके कारण होता है न कि उपभोग कम होने के कारण होता है। यह मार्क्स का सिद्धान्त है। कभी हम आगे करेंगे तो और डिटेल में करेंगे।"

सुखविन्दर यहां फिर से दिमागी गड्डमड्डपन का परिचय देते हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि उपभोग का कम होना भी संकट का एक लक्षण होता है, हालांकि यह संकट का कारण नहीं होता है। तो ऐसा नहीं है कि मुनाफे की औसत दर के गिरने के संकट के दौर में भी उपभोग बढ़ ही रहा होता है। उस समय आम तौर पर अल्पउपभोग भी होता है। ज़ाहिर है कि सुखविन्दर मुनाफे के गिरने के संकट के एक लक्षण के तौर पर अल्पउपभोग की परिघटना को देखने और अल्पउपभोगवादी होने में फर्क नहीं कर पाते हैं और दावा करते हैं कि हर सूरत में पूंजीवादी संकट के दौरान भी उपभोग बढ़ ही रहा होता है। यह मूर्खतापूर्ण बात है और मार्क्स के संकट के सिद्धान्त का एक मखौल बनाना है।

संकट के विकसित होने में कारणात्मक क्रम कुछ इस प्रकार होता है: पूंजीपतियों की आपसी प्रतिस्पर्द्धा और पूंजीपति वर्ग व मज़दूर वर्ग के बीच संघर्ष के कारण पूंजी का आवयविक संघटन लगातार बढ़ता है; आवयविक संघटन बढ़ने के कारण मुनाफे की औसत दर अन्ततः गिरती है क्योंकि बेशी मूल्य की दर में कोई भी बढ़ोत्तरी केवल अस्थायी तौर पर उसे रोक सकती है; मुनाफे की औसत दर के गिरने के कारण पूंजीपति वर्ग द्वारा निवेश में कमी आती है; निवेश में कमी आने के साथ छंटनी, तालाबन्दी आदि होती है; छंटनी, तालाबन्दी आदि के कारण बेरोज़गारी बढ़ती है और साथ ही पूंजीपति वर्ग के बीच आपसी ख़रीद-फ़रोख़्त में भी गिरावट आती है; नतीजतन, समाज में मज़दूरी की औसत दर नीचे आती है; इसके साथ, औसत उपभोग की दर भी गिरती है और साथ ही 'अतिउत्पादन' की परिघटना भी प्रकट होती है। इसलिए अल्पउपभोग होता है, लेकिन वह संकट का कारण नहीं बल्कि एक लक्षण होता है। यह कहना कि पूंजीवाद में संकट के कारण अल्पउपभोग नहीं होता और उपभोग लगातार बढ़ता रहता है, मूर्खतापूर्ण बात है और दिखलाता है कि सुखविन्दर ने मार्क्सवादी संकट

सिद्धान्त का कोई गम्भीर अध्ययन नहीं किया है और इधर-उधर से कुछ बातें सुन कर व्याख्यान देने बैठ गये हैं।

तीसरी बात, पूंजी बढ़ने पर हर सूरत में रोज़गार बढ़ता नहीं है। यदि पूंजी संचय की दर पूंजी के आवयविक संघटन के बढ़ने की दर से तेज़ी से बढ़ रही है, तो ही रोज़गार बढ़ता है, जो कि तेज़ी के दौरों में अक्सर होता भी है। लेकिन यदि आवयविक संघटन की दर विस्तारित पुनरुत्पादन व पूंजी संचय की दर (यानी, बेशी मूल्य के पूंजी में रूपान्तरण की दर) से ज्यादा है, तो विस्तारित पुनरुत्पादन व पूंजी संचय होने के बावजूद रोज़गार ठहरावग्रस्त हो सकता है या घट भी सकता है। ऐसा स्थिरता और अर्थव्यवस्था में कम तेज़ी होने के दौर में हो सकता है। इसलिए सुखविन्दर यहां पर पूंजीवादी व्यवस्था के प्रशंसक और अपौलजिस्ट बन जाते हैं जब वह कहते हैं कि पूंजी संचय होने पर तो रोज़गार हर सूरत में बढ़ता ही है। **वास्तव में एडम स्मिथ ठीक इसी विभ्रम के कारण पूंजीवाद के प्रशंसक थे लेकिन मार्क्स ने दिखलाया कि ये प्रशंसा किस प्रकार अतार्किक है और इस पहलू पर ध्यान नहीं देती कि पूंजी का आवयविक संघटन लगातार बढ़ता रहता है और वह कई मौकों पर पूंजी संचय की दर से अधिक होता है, जिसके नतीजे के फलस्वरूप विस्तारित पुनरुत्पादन होने के बावजूद बेरोज़गारी बढ़ सकती है। मार्क्स ने बताया कि एडम स्मिथ यह गलती इसलिए भी करते हैं क्योंकि वह मैन्युफैक्चरिंग के युग के राजनीतिक अर्थशास्त्री थे और मशीनोफैक्चर के युग की आन्तरिक गतिकी के बारे में ठीक से नहीं जानते थे। लेकिन सुखविन्दर के समान जब कोई यह तर्क नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के युग में देता है, तो वह मिल्टन फ्रीडमैन के स्तर पर गिर जाता है। सुखविन्दर का अज्ञान उन्हें पूंजीवादी व्यवस्था के सबसे बेशर्म क्षमायाचकों और प्रशंसकों के स्तर पर ले गया है।**

चौथी बात, स्वयं अतिउत्पादन (over-production) भी संकट का लक्षण ही है। उत्पादन की कोई विशेष मात्रा किसी दौर में अतिउत्पादन के रूप में प्रकट होती है, तो इसका कारण यह होता है कि उस समय मुनाफे की जो औसत दर है, उस पर उसे खपाया नहीं जा सकता है। **उत्पादन की कोई विशेष मात्रा अतिउत्पादन तो कहलाती नहीं है। समाज में मुनाफे की औसत दर यदि इतनी होती है कि विस्तारित पुनरुत्पादन उत्पादित माल (जो कि स्वयं माल-पूंजी यानी commodity capital ही होती है) को खपा सके, तो वह अतिउत्पादन में तब्दील नहीं होती क्योंकि पूंजीपति वर्ग आपस में उत्पादन के साधनों व उपभोग के साधनों दोनों की ही बड़े पैमाने पर खरीद करता है और उत्पादित माल का वास्तवीकरण होता है। उत्पादन की ठीक यही मात्रा मुनाफे की औसत दर के नीचे होने पर वास्तवीकृत नहीं हो पाती और अतिउत्पादन की परिघटना सामने आती है। अल्पउपभोग और अतिउत्पादन दोनों ही मुनाफे की औसत दर के गिरने के संकट की अभिव्यक्तियां मात्र हैं, स्वयं संकट का मूल कारण नहीं, जैसा कि सुखविन्दर को अतिउत्पादन के मामले में लगता है।**

सुखविन्दर ने अलग से कहीं पढ़ रखा है कि मुनाफे की औसत दर का गिरना मार्क्सवादी संकट सिद्धान्त का प्रमुख बिन्दु है, लेकिन जब वह विस्तार में जाते हैं तो संकट की कारणात्मक व्याख्या करते हुए उसे अतिउत्पादन बताते हैं। यह दिखलाता है कि सुखविन्दर को यह समझ ही नहीं आता है कि मुनाफे की औसत दर के गिरने का संकट का सिद्धान्त आखिर है क्या! **जैसा कि मार्क्स ने बताया था पूंजी की प्रचुरता और कुछ नहीं है बल्कि पूंजी की वह मात्रा है जो कि लाभप्रद रूप में, यानी मुनाफे की स्वस्थ औसत दर पर निवेशित नहीं हो सकती। अपने आप में अतिउत्पादन या पूंजी की प्रचुरता किसी चीज़ की व्याख्या नहीं करते, बल्कि मुनाफे के औसत दर की गति के**

ज़रिये उसकी व्याख्या की जानी होती है।

सुखविन्दर के इस दिमागी गड्डमड्डपन का कारण मार्क्सवादी संकट सिद्धान्त के बारे में उनका अज्ञान है। वह अलग से मुनाफे की औसत दर के गिरने के संकट सिद्धान्त का नाम लेते हैं, मगर कभी अल्पउपभोगवाद के गड्ढे में गिरते हैं, तो कभी संकट के अन्य लक्षणों को ही संकट का मूल कारण समझने में गिरते हैं।

साम्राज्यवाद के विषय में सुखविन्दर का बचकानापन

जिस प्रकार सुखविन्दर मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के अन्य मसलों पर बुरी तरह से भ्रमित हैं, उसी प्रकार वे साम्राज्यवाद के मसले पर भी भयंकर अज्ञान का प्रदर्शन करते हैं। ये भूलें तथ्यात्मक तो हैं ही, साथ ही अवधारणात्मक भी हैं।

पहले तो सुखविन्दर साम्राज्यवादी देशों की संख्या पेश करते हैं कि लेनिन के वक्त कितने थे और आज कितने हैं। वह कहते हैं:

> "लेनिन के समय में तीन तरह के देश थे। एक तो साम्राज्यवादी देश। साम्राज्यवादी देश तब 7 थे, अब तो 10 साम्राज्यवादी देश हैं दुनिया में। 7 साम्राज्यवादी देश--अमरीका, इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, इटली, रूस।"

अभी इसमें नहीं जाते कि ये जो देश गिनाए गए हैं, वे मात्र छह ही हैं, सात नहीं, लेकिन ऐसी कोई निश्चित संख्या देने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। लेकिन जो देश बताए गए हैं, उससे ऐसा लगता है कि जो देश सैन्य तौर पर साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा में सक्रिय रूप से लगे हुए थे, उन्हें ही साम्राज्यवादी देशों में गिना गया है। जो भी देश मुख्य रूप से पूंजी का निर्यात करते हैं, वे साम्राज्यवादी देश ही हैं, चाहे उनके नियंत्रण में कोई उपनिवेश या अर्द्धउपनिवेश हों या नहीं। साम्राज्यवाद एक सैन्य अवधारणा नहीं है, बल्कि एक राजनीतिक अर्थशास्त्र की तथा राजनीति की अवधारणा है।

दूसरी बात यह कि आज दस ही साम्राज्यवादी देश किस प्रकार हैं? अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन, चीन, रूस, जापान, इटली, स्कैण्डिनेवियाई देश जैसे स्वीडन, नॉर्वे, व अन्य तमाम ऐसे देश जो मुख्य रूप से पूंजी का निर्यात करते हैं जैसे हॉलैण्ड, बेल्जियम, इत्यादि, को क्या साम्राज्यवादी देशों की श्रेणी में नहीं रखा जाएगा?। **लगता है कि यहां भी उन देशों को साम्राज्यवादी माना गया है जो सबसे आक्रामक तरीके से दुनिया के आर्थिक विभाजन के लिए अपनी विस्तारवादी नीति लागू कर रहे हैं। वास्तव में, जिस चीज़ को किसी देश के साम्राज्यवादी होने या न होने का पैमाना माना जाना चाहिए, यानी कि पूंजी के शुद्ध निर्यातक होने का, उसे यहां पैमाना माना ही नहीं गया है। इस पैमाने को यदि माना जाय तो यह ज़रूर हो सकता है कि कुछ देश प्रमुख साम्राज्यवादी देश हैं, जबकि कुछ अन्य साम्राज्यवादी देशों की दूसरी व तीसरी कतारों में शामिल हैं, लेकिन हैं वे सभी साम्राज्यवादी देश ही है। लेकिन सुखविन्दर ने तो ठीक-ठीक संख्या ही गिन डाली है!**

इसके बाद सुखविन्दर यह भी दिखलाते हैं कि साम्राज्यवाद के बारे में कुछ प्रातिनिधिक मार्क्सवादी रचनाओं के

विषय में सुखविन्दर को ठीक से पता नहीं है। वह कहते हैं:

> "होब्सन की पुस्तक है 'Imperialism'। उसके बाद हिलफर्डिंग की पुस्तक आई 'Finance Capital'। उसके बाद बुखारिन की पुस्तक आई, उसका नाम था, 'साम्राज्य और विश्व अर्थव्यवस्था', इस तरह की कई पुस्तकें आई। फिर 1914 में लेनिन की पुस्तक आई, वह पुस्तक है 'साम्राज्यवाद, पूँजीवाद की चरम अवस्था'।"

पहली बात तो बुखारिन की पुस्तक का नाम 'साम्राज्यवाद और विश्व अर्थव्यवस्था" था, "साम्राज्य और विश्व अर्थव्यवस्था" नहीं! और सुखविंदर को इतना भी नहीं पता कि लेनिन की 'साम्राज्यवाद: पूंजीवाद की चरम अवस्था' कब प्रकाशित हुई थी। लेनिन की यह पुस्तिका 1914 में नहीं 1916 में आई थी। ये तथ्यात्मक भूलें प्रतीत हो सकती हैं और मार्क्सवाद के किसी शुरुआती विद्यार्थी के लिए क्षम्य भी हो सकती हैं। लेकिन जब कोई व्यक्ति संशोधनवाद से मार्क्सवाद की सैद्धान्तिक हिफ़ाज़त के महती कार्यभार को अपने कन्धों पर लेकर निकला हो और व्याख्यान दे रहा हो, तो ऐसी चीज़ों की जानकारी न होना कतई क्षम्य नहीं माना जा सकता है।

साम्राज्यवाद पर लेनिन की पुस्तिका के नाम में 'लेटेस्ट' या 'हाइयेस्ट' होने के विषय में भी सुखविन्दर के विचार अज्ञानता से भरे हुए हैं:

> "लेनिन की जो पुस्तक पहली बार रूस में छपी थी, तो उसमें लेटेस्ट कहा गया था, लेटेस्ट स्टेज ऑफ़ इंपिरियलिज़्म, बाद में highest के नाम से छपी। अब इस पर भी लोग विवाद करते हैं कि लेनिन ने तो लेटेस्ट कहा था, आप लोग highest कह रहे हैं। लेटेस्ट कह लें या highest कह लें, बात तो एक ही है न। उसकी पूरी पुस्तक पढ़कर इस तरह लगता है कि इससे अगली कोई अवस्था नहीं आ सकती है। लेटेस्ट कह लो, अब तक की लेटेस्ट। हाइएस्ट कह लो, अब तक की हाइएस्ट। हाइएस्ट भी तभी बनेगा न। दोनों का अर्थ तो एक ही न। ये फालतू के नहीं कुछ विवाद खड़े किए जाते हैं चीज़ों को बिगाड़ने के लिए। लेटेस्ट और हाइएस्ट में कोई अंतर नहीं है। अब लेनिन ने क्यों कहा था हाइएस्ट?"

और देखें सुखविन्दर क्या बोलते हैं:

> "आगे, लेटेस्ट और हाइएस्ट वाला। अब लेटेस्ट और हाइएस्ट वाला, सामाजिक विकास के मामले में इसमें कोई अंतर नहीं है। पुस्तक का एडीशन नया आ सकता है। किताब की कौन-सा कोई स्टेज होती है। जैसे, एक किताब अब दोबारा छाप दी, ये ऐसा तो नहीं है कि नई स्टेज में चली गई। जब हम कहते हैं कि समाज विकास के नए पड़ाव में चला गया, उसे लेटेस्ट कह लें, उसे हाइएस्ट कह लें, एक ही अर्थ है उसका। इस अर्थ में तो हो सकता है, लेटेस्ट और हाइएस्ट में अंतर। लेटेस्ट मतलब अब तक का लेटेस्ट, हाइएस्ट मतलब अब तक का हाइएस्ट। यही बना न? इसलिए, इसमें कोई अंतर नहीं है, लेटेस्ट और हाइएस्ट में। मतलब, समाज के संदर्भ में नहीं कोई अंतर किया जा सकता है।"

सच यह है कि हाइयेस्ट और लेटेस्ट में अन्तर है। 'लेटेस्ट' का अर्थ है किसी समय तक का नवीनतम चरण। यह अपने आप में इस बात की मनाही नहीं करता है कि इसके बाद कोई चरण नहीं आ सकता है। 'हाइयेस्ट' का अर्थ

है उच्चतम या चरम अवस्था या चरण। इसका अर्थ यह है कि इसके बाद कोई चरण नहीं आ सकता है। पहली अवधारणा एक कालिक अवधारणा (chronological concept) है, जबकि दूसरी अवधारणा एक तार्किक अवधारणा (logical concept) है। दूसरे शब्दों में, लेनिन जब साम्राज्यवाद को पूंजीवाद की चरम अवस्था कहते हैं तो उसका यह अर्थ नहीं है कि बस तुरन्त ही सर्वहारा क्रान्ति होने वाली है, बल्कि यह है कि यह पूंजीवादी व्यवस्था का अन्तिम चरण है और इसके बाद कोई नयी मंजिल नहीं आएगी। यह चरण एक दीर्घकालिक चरण भी हो सकता है, जैसा कि लेनिन ने अपनी पुस्तक में स्वयं ही बताया था। लेनिन की इस पुस्तक के पहले ड्राफ्ट में ही उन्होंने 'हाइयेस्ट' शब्द का प्रयोग किया है, जिसे कई बार कुछ संस्करणों में 'लेटेस्ट' भी लिखा गया। लेकिन सोवियत क्रान्ति के बाद आने वाले तमाम संस्करणों में इसी वजह से 'हाइयेस्ट' शब्द का ही प्रयोग किया गया था और 'लेटेस्ट' शब्द का प्रयोग बन्द कर दिया गया था क्योंकि यह शब्द लेनिन के साम्राज्यवाद के सिद्धान्त के विषय में भ्रम पैदा करता था। लेकिन सुखविन्दर को लगता है कि 'लेटेस्ट' का प्रयोग किया जाय या 'हाइयेस्ट' का प्रयोग किया जाय एक ही बात है और ये शब्दों को लेकर बेकार में खड़ा किया गया विवाद है! **लेकिन सच यह है कि एक ही बात नहीं है। इन दोनों शब्दों में अवधारणात्मक फर्क है, जो कि लेनिन के साम्राज्यवाद के सिद्धान्त को न समझ पाने के कारण सुखविन्दर की समझ में ही नहीं आया है।**

दूसरी बात यह है कि साम्राज्यवाद समाज की नयी मंजिल नहीं है। यह पूंजीवादी व्यवस्था की आखिरी मंजिल है। साम्राज्यवाद इजारेदार पूंजीवाद ही होता है और इस रूप में वह समाज की नयी मंजिल नहीं होता है क्योंकि राज्यसत्ता के चरित्र और उत्पादन पद्धति पूंजीवादी ही बनी रहती है और उसमें कोई गुणात्मक अन्तर नहीं होता है। इस रूप में साम्राज्यवाद पूंजीवाद का अन्तिम चरण है, न कि समाज की कोई नयी मंजिल। ये सारी बातें समझने में असफलता केवल यही दिखलाता है कि सुखविन्दर बिना गम्भीरता से अध्ययन किये इन सभी विषयों पर लेक्चर देने निकल पड़े हैं।

आइये देखते हैं कि सुखविन्दर किस प्रकार लेनिन के साम्राज्यवाद के सिद्धान्त को समझने में असफल रहे हैं।

सुखविन्दर का मानना है कि इजारेदारी ही साम्राज्यवाद है। वह कहते हैं:

> "इज़ारेदारी और साम्राज्यवाद तो अलग चीज़ें है ही नहीं। लेनिन ने कहा है न कि साम्राज्यवाद एकाधिकारी पूँजीवाद है। अब इज़ारेदारी और साम्राज्यवाद में विभाजन करना भी गलत है।"

गलत। फिर से दिमागी गड्डमड्डपन के कारण सुखविन्दर अगड़म-बगड़म बोले जा रहे हैं। इजारेदारी ही साम्राज्यवाद नहीं है। एक जगह वह बोलते हैं कि एकाधिकारी पूंजीवाद ही साम्राज्यवाद है। यह सही है। लेकिन अगर आप बोलते हैं कि इजारेदारी ही साम्राज्यवाद है तो आप एक नयी बात बोल रहे हैं और बिल्कुल ग़लत बात बोल रहे हैं। इजारेदारी तो साम्राज्यवादी दौर के आने के पहले भी मौजूद थी। साम्राज्यवाद के दौर में इजारेदारी प्रमुख प्रवृत्ति बन जाती है। लेकिन मार्क्स ने 'पूंजी' और अपनी उससे भी पहले की रचनाओं में ही इजारेदारियों के बनने की प्रवृत्ति को ओर स्पष्ट शब्दों में चिन्हित किया है। साम्राज्यवाद के युग में जो नया होता है वह है इजारेदारी का प्रमुख प्रवृत्ति बन जाना, वैश्विक इजारेदारियों का पैदा होना, पूंजी का निर्यात होना, विश्व का इजारेदारियों में बंटवारा होना और प्रमुख साम्राज्यवादी शक्तियों में बंटवारा होना, इत्यादि। लेकिन इजारेदारी ही

साम्राज्यवाद नहीं होता, इजारेदार पूंजीवाद (यानी ऐसा पूंजीवाद जिसमें इजारेदारी प्रमुख प्रवृत्ति बन चुकी हो) साम्राज्यवाद होता है।

ये सुनने में मामूली बातें लग सकती हैं लेकिन इन विभेदों पर राजनीतिक अर्थशास्त्रीय विश्लेषण की पूरी सटीकता आधारित होती है। लेकिन जब सुखविन्दर बेहद मोटी-मोटी बातें भी नहीं समझ पाते, तो इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि जब वह ज़रा भी विस्तार या बारीकी में जाते हैं तो प्रचण्ड मूर्खतापूर्ण बातें करते हैं।

जैसा कि हमने पहले भी इंगित किया था, सुखविन्दर अपने अज्ञान को कुछ name-dropping करके छिपाने का प्रयास करते हैं। साम्राज्यवाद के विषय में बातचीत के दौरान भी वह ऐसा ही करते हैं। एण्टोनियो नेग्री और माइकेल हार्ट के 'एम्पायर' के सिद्धान्त के बारे में भी सुखविन्दर डींग हांकते हैं, जबकि उन्हें इस बारे में कुछ पता ही नहीं है। वह कहते हैं:

> "जगरूप ने कब खण्डन किया था लेनिन के साम्राज्यवाद के सिद्धान्त का, तब यह फैशन था। यह कोई मौलिक नहीं है, यह नकल करता है। यह बातें तो एम्पायर के लेखकों ने की है। 2003-4 में आ गया था उसका सिद्धान्त एम्पायर। यहाँ हमारे पास किताब पड़ी है। यह मई 2000 में आया है। हमारे बहुत सारे अर्थशास्त्री हैं, एजाज अहमद, प्रभात पटनायक, वे यही बातें करते हैं। वही बातें यह करता है।"

बिल्कुल ग़लत! एजाज अहमद और प्रभात पटनायक कतई वह बात नहीं कर रहे हैं जो नेग्री और हार्ट 'एम्पायर' पुस्तक में करते हैं। एजाज अहमद और प्रभात पटनायक ने अफगानिस्तान पर हमले और फिर इराक पर हमले के दौरान नवकाउत्स्कीपंथी सिद्धान्त दिया था। उनके अनुसार, अब दुनिया एकध्रुवीय हो चुकी थी या एकध्रुवीय होने की ओर अग्रसर थी। साम्राज्यवाद अब प्रतिस्पर्द्धा से मुक्त हो गया था, क्योंकि अमेरिका-नीत साम्राज्यवादी विश्व अब एकध्रुवीयता से पहचाना जा सकता था। एक छोटे-से दौर के प्रतीतिगत यथार्थ को एजाज़ अहमद और प्रभात पटनायक सारभूत यथार्थ समझ बैठे थे और नवकाउत्स्कीवाद की ओर गमन कर गये थे। नेग्री और हार्ट तो साम्राज्यवाद के अस्तित्व को ही नकारते हैं और साम्राज्य की थीसिस देते हैं, जिसमें पूंजी और उसकी सत्ता एक अवैयक्तिक शक्ति (impersonal power) है। यहां हम इसके विस्तार में नहीं जा सकते हैं, लेकिन स्पष्ट है कि सुखविन्दर ने यहां बिना पढ़े कुछ प्रसिद्ध नामों के गोले गिरा दिये हैं क्योंकि पटनायक व अहमद के सिद्धान्तों और नेग्री और हार्ट के सिद्धान्तों में ऐसी कोई तुलना ही सम्भव नहीं है, और दोनों बेहद अलग सिद्धान्त हैं, बेहद अलग ग़लत सिद्धान्त!

जैसा कि हम देख सकते हैं, सुखविन्दर की राजनीतिक अर्थशास्त्र के तमाम बुनियादी सिद्धान्तों के बारे में भी बेहद अधकचरी, ग़लत और गड्डमड्ड किस्म की समझदारी है। उन्होंने राजनीतिक और विचारधारात्मक मामलों में जिने अज्ञान का प्रदर्शन किया था, राजनीतिक अर्थशास्त्र के मामले में वह उससे भी आगे जाते हैं और अपनी मूर्खता और अज्ञान के नये सीमान्तों को उजागर करते हैं।

अब हम इस आलेख के आखिरी हिस्से पर आते हैं।

.

इतिहास व तथ्यों के बारे में सुखविन्दर का दयनीय अज्ञान

हर प्रकार के तथ्यों के बारे में आम तौर पर जानकारी अपने आप में किसी व्यक्ति की तर्क-क्षमता के विषय में निर्णायक सूचना नहीं देती है। लेकिन एक राजनीतिक व्यक्ति के लिए कम्युनिस्ट आन्दोलन, मार्क्सवादी चिन्तन और साथ ही देश-दुनिया की अहम राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक घटनाओं व तथ्यों के बारे में सटीक जानकारी अनिवार्य होती है। इसके बिना ऐसा व्यक्ति राजनीतिक नेतृत्व देने की क्षमता नहीं रख सकता है। इसलिए जब कोई विजातीय प्रवृत्तियों से मार्क्सवाद की रक्षा करने की अहम जिम्मेदारी उठाने का दावा करता है, तो उससे यह उम्मीद की जाती है कि वह ऐसे तथ्यों और घटनाओं के विषय में भी बुनियादी जानकारी रखता हो। लेकिन सुखविन्दर का राजनीतिक सामान्य ज्ञान उतना भी नहीं है, जितना कि एक बारहवीं उत्तीर्ण कर चुके ऐसे युवा के पास होता है जो देश-दुनिया, राजनीति आदि में दिलचस्पी रखता है। आइये, अन्त में इस पर भी थोड़ी सी निगाह डाल लेते हैं।

ऐतिहासिक विवरणों और तथ्यों की गम्भीर ग़लतियां: सुखविन्दर की 'अधजल गगरी छलकत जाय'

सबसे पहले बोल्शेविक क्रान्ति के बाद समाजवादी निर्माण के इतिहास के बारे में सुखविन्दर के निपट अपढ़पन पर चर्चा करना उपयुक्त होगा।

सुखविन्दर कहते हैं:

> "क्योंकि 1917 में जब मज़दूर वर्ग ने सत्ता पर कब्ज़ा किया, तब उसके बेस और इकॉनमी में तो जो ज़मीन थी, वह सभी लोगों की निजी ज़मीन थी। फैक्ट्रियों को 2-4 फ़ीसदी हिस्सा ही साझा किया गया था। और पार्टी की यह लाइन थी कि रूस जो है बहुत पिछड़ा हुआ देश है, बहुत पिछड़े हुए देश में क्रान्ति हुई है, अभी हम लोगों के कारखाने छीनने की बहुत जल्दी न करें। मॉरिस डॉब ने बहुत अच्छा लिखा है कि लोगों के आंदोलन के दबाव से ही हो गया, पार्टी तो अभी सहमत नहीं थी कि अभी न करो, थोड़ा रुक जाओ। कि डंडा हमारे पास ही है, जब भी छीन लें इनसे। और लेनिन ने 1917 से लेकर 1919 के मध्य तक कहा कि ट्रांज़िशन टूवार्ड सोशलिज़्म परंतु वह सत्ता प्रोलेतारी की थी। यहाँ तक कि 1927 तक को ग्रामीन क्षेत्र में जो ज़मीन थी, वहाँ सामूहिकीकरण की प्रक्रिया ही नहीं शुरू हुई थी।"

यह पूरा विवरण दिखलाता है कि सुखविन्दर ने सोवियत रूस के इतिहास के बारे में कोई अध्ययन नहीं किया है। उन्हें लगता है कि जिस हद तक मज़दूरों ने स्वत:स्फूर्त रूप से जो 2-4 फीसदी कारखानों पर कब्ज़ा किया था (और जिसे सोवियत सरकार ने मान्यता दी थी) उसके अलावा 1917 से 1919 के बीच कारखानों का राष्ट्रीकरण नहीं किया गया था। ग़लत! जून 1918 से लेकर नवम्बर 1920 के बीच रूस में उद्योगों का राष्ट्रीकरण किया जा चुका था। 28 जून 1918 को ही एक कानून पारित किया गया जिसने उद्योग की सभी

प्रमुख शाखाओं का राष्ट्रीकरण कर दिया; 1918 के जून से दिसम्बर के बीच कई कानून पारित हुए जिन्होंने बचे-खुचे बड़े उद्योगों के राष्ट्रीकरण का काम पूरा कर दिया। 1918 के अन्त तक बेहद छोटे उद्योगों को छोड़कर सभी बड़े उद्योगों का राष्ट्रीकरण पूरा हो चुका था। कई जगहों पर अभी केन्द्रीय आर्थिक परिषद (वेसेंखा) ने प्रत्यक्ष नियंत्रण अपने हाथ में नहीं लिया था और यह प्रक्रिया कुछ समय तक जारी रही थी, लेकिन बड़े उद्योगों में राष्ट्रीकरण का कार्य 1918 के अन्त तक ही समाप्त हो चुका था। यह सच है कि इसमें गृहयुद्ध द्वारा पैदा आर्थिक आपदा की स्थिति की भी एक भूमिका थी, क्योंकि तात्कालिक तौर पर लेनिन का इरादा राष्ट्रीकरण कर इन उद्योगों को मात्र समाजवादी राज्य द्वारा राष्ट्रीय एकाउंटिंग के मातहत लाना और पार्टी व सर्वहारा राज्य के नेतृत्व में मज़दूर नियंत्रण में लाना था, लेकिन यह प्रक्रिया हूबहू उस रूप में नहीं चली, जैसा कि लेनिन का इरादा था, बल्कि गृहयुद्ध की आपात स्थिति ने इसे और आगे बढ़ा दिया। नवम्बर 1920 में सोवियत सत्ता ने ऐसे हर उद्योग का राष्ट्रीकरण कर दिया जिसमें बिना मैकेनिकल पावर के 10 मज़दूर तक काम करते थे या मैकेनिकल पावर के साथ 5 मज़दूर काम करते थे (इस पूरे विवरण के लिए देखें, ई.एच. कार, 'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन', वॉल्यूम 2, पृ. 173-74)।

इसके साथ उद्योग में राष्ट्रीकरण का कार्य, यानी विधिक निजी सम्पत्ति का खात्मा हो चुका था और चूंकि राज्यसत्ता में सर्वहारा वर्ग काबिज़ था इसलिए यह राजकीय सम्पत्ति समाजवादी सम्पत्ति ही था, हालांकि मज़दूर वर्ग पार्टी व राज्यसत्ता के संस्थाबद्ध नेतृत्व के बिना समस्त आर्थिक निर्णय स्वयं लेने की स्थिति में अभी नहीं था, जो कि रूस जैसे देश में समाजवाद की उन्नततर मंजिल में ही सम्भव था।

इसलिए यदि सुखविन्दर को लगता है 1919 तक सोवियत रूस में उद्योगों का राष्ट्रीकरण नहीं शुरू हुआ था (सिवाय मज़दूरों द्वारा कब्ज़ा कर ली गयी 2-4 प्रतिशत फक्ट्रियों के) तो उन्हें रूस में समाजवाद की समस्याओं के इतिहास के अध्ययन की गम्भीरता से दरकार है।

इसके अलावा यह सूचना भी ग़लत है कि 1927 तक कोई सामूहिकीकरण हुआ ही नहीं था। क्रान्ति के तुरन्त बाद ही और 1920-21 तक कुछ सामूहिक व राजकीय फार्म बनाए गए थे, हालांकि ग्रामीण क्षेत्रों में पार्टी की राजनीतिक पकड़ कमज़ोर होने और गृहयुद्ध की आपात स्थिति में मज़दूर-किसान संश्रय के कमज़ोर होने के कारण यह प्रक्रिया रोक दी गयी थी और नेप की अवधि में यह प्रक्रिया ठहरावग्रस्त ही रही थी। इसके बारे में जानकारी के लिए आप ई. एच. कार की पुस्तक 'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन' के दूसरे खण्ड के पृष्ठ 156 को देख सकते हैं, जिसमें बताया गया है कि 1918 में ही सोवियत कलेक्टिव फार्मों की संख्या थी 3100, 1919 में यह 3500 और 1920 में 4400 तक पहुंची। लेकिन यह प्रक्रिया 1920 के बाद आगे नहीं बढ़ सकी थी और तब भी कुल खेती योग्य भूमि में कलेक्टिव फार्मों का हिस्सा 4-5 प्रतिशत से ज्यादा नहीं था। सामूहिकीकरण की प्रक्रिया दोबारा व्यवस्थित तौर पर 1929 के आपातकालीन कदमों (emergency steps) के साथ प्रारंभ हुई और 1930-31 से पार्टी ने ग़रीब किसानों और निम्न मध्यम किसानों को राजनीतिक तौर पर साथ लेकर इस प्रक्रिया को एक वर्ग संघर्ष के आन्दोलन के रूप में चलाया और कुलकों को एक वर्ग के तौर पर समाप्त किया गया। लेकिन यह तथ्य कतई ग़लत है कि 1927 से पहले कोई सामूहिकीकरण हुआ ही नहीं था। सुखविन्दर इस विषय में भी कल्पना के तीर ज्यादा छोड़ते हैं और ठोस ऐतिहासिक जानकारी की गम्भीर कमी को प्रदर्शित करते हैं।

आगे बढ़ते हैं।

चीनी क्रान्ति के इतिहास पर भी सुखविन्दर अध्ययन की गम्भीर कमी को प्रदर्शित करते हैं। सुखविन्दर कहते हैं:

> "उदाहरण के लिए, चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई 1919 में, तब चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना समाजवादी क्रान्ति के प्रोग्राम पर हुई थी। पर वह गलत साबित हुआ। 1933 में माओ ने कहा कि इस तरह क्रान्ति नहीं हो सकती है।"

ग़लत। 1921 में पहली पार्टी कांग्रेस ने वैसे तो पूरी तरह से कार्यक्रम के सवाल को हल नहीं किया था, लेकिन उसने इस त्रॉत्स्कीपंथी कार्यदिशा का पुरज़ोर विरोध किया था कि चीन में तात्कालिक कार्यभार सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना है, न कि बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को पूरा करना। पहली कांग्रेस में ही पार्टी का स्पष्ट तौर पर मानना था कि चीन जनवादी क्रान्ति की मंजिल में है, न कि समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में। चीनी नवजनवादी क्रान्ति के बेहतरीन इतिहासकार हो कान ची बताते हैं कि पहली कांग्रेस में ही सीधे सर्वहारा अधिनायकत्व स्थापित करने और समाजवादी क्रान्ति की कार्यदिशा की "वामपंथी" कार्यदिशा का विरोध किया गया था:

> "The First National Congress of the Party opposed two erroneous viewpoints....**The other was the "Left" adventurist viewpoint which held that proletarian dictatorship was the immediate aim of the Party, and opposed the Party's participation in the bourgeois-democratic movement, the launching of legal activities and the admission of intellectuals into the Party."** (Ho Kan-Chih, 'A History of the Modern Chinese Revolution', p. 21-22, *emphasis ours*)

चीनी पार्टी की दूसरी कांग्रेस में जो कार्यक्रम अपनाया गया था वह जनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम ही था। पहली पार्टी कांग्रेस ने मुख्यत: कार्यक्रम के प्रश्न को हल नहीं किया था और उसका मुख्य योगदान था एक लेनिनवादी पार्टी के निर्माण व गठन की बुनियाद रखना। दूसरी कांग्रेस ने, जो कि 1922 में हुई, कार्यक्रम और राजनीतिक कार्यदिशा के प्रश्न को हल किया और राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम अपनाया। शुरू में छन तू श्यू ने समाजवादी क्रान्ति की लाइन अपनाई, जो कि त्रॉत्स्कीपंथी कार्यदिशा थी। लेकिन उसके कुछ ही समय बाद उसने मेंशेविक कार्यदिशा अपना ली और कहने लगा कि जनवादी क्रान्ति होगी, लेकिन वह बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में होगी और सर्वहारा वर्ग और उसकी पार्टी को बस बुर्जुआ वर्ग के समर्थक की भूमिका निभानी चाहिए।

माओ ने शुरू से ही इस कार्यदिशा का विरोध किया था और यह मसला पार्टी के भीतर 1926-27 के बाद हल हुआ। माओ का मानना था कि पार्टी को जनवादी क्रान्ति की मंजिल में भी नेतृत्व अपने हाथों में लेना चाहिए। लेकिन इतना स्पष्ट है कि चीनी पार्टी ने शुरुआत में समाजवादी क्रान्ति का कार्यक्रम नहीं अपनाया था। देखिये कि इस बारे में हो कान ची क्या लिखते हैं। दूसरी कांग्रेस में अपनाए गए कार्यक्रम के दूसरे हिस्से के बारे में हो कान ची

लिखते हैं:

> "The second part analyses the nature of Chinese society, and of the Chinese revolution and its motive forces. China was a semi-colonial, semi-feudal society, which was confronted with **an anti-imperialist, anti-feudal revolution, or a national-democratic revolution.** The motive forces of the revolution embraced the working class, peasantry, and petty bourgeoisie. The national bourgeoisie was also a revolutionary force.
>
> ...
>
> "The Manifesto also points out that under the historical conditions of the time, the basic tasks of the Chinese people's revolution were : (1) to eliminate civil strife, overthrow the warlords and establish internal peace, (2) to cast off the yoke of international imperialism and achieve the complete independence of the Chinese people, and (3) to unify China into **a genuine democratic republic.** These formed the Party's minimum programme. **Thus a genuine revolutionary democratic programme was laid before the Chinese people by the Party.** "Down with Imperialism!" "Down with the Feudal Warlords!" **"Build a Democratic Republic!"**—these were the **cardinal slogans of China's democratic revolution.** (*ibid*, p. 24, *emphasis ours*)

आगे देखें हो कान ची क्या कहते हैं:

> "**The Second National Congress laid the foundation of the Party's political line and programme, as the First National Congress had laid the foundation of its organizational principle.** Nevertheless, the Second Congress also had **a number of weaknesses—particularly on the question of proletarian leadership.** Though it pointed out that the proletariat would eventually become the leading class of the revolution, yet **it failed to emphasize the necessity of proletarian leadership in the immediate bourgeois-democratic revolution,** holding instead that the Party's task was only "to guide the workers in helping along the democratic revolutionary movement." **This amounted to degrading the proletariat from the role of a leader in the democratic revolution to that of a mere assistant to the**

bourgeoisie...It overlooked the fact that the establishment of the people's democratic dictatorship, led by the working class and based on the worker-peasant alliance, was not only absolutely necessary and possible, but the only way leading to socialism and communism in China, without the interposition of a period of bourgeois dictatorship in between. These weaknesses were further developed by the Chen Tu-hsiu Right opportunist clique into a serious deviation in Party policy during the revolution from 1924 to 1927. As a result, revolution suffered a setback. (*ibid*, p. 25-26, *emphasis ours*)

चौथी पार्टी कांग्रेस ने इस ग़लती को दुरुस्त करने की शुरुआत की। चौथी कांग्रेस के बारे में हो कान ची बताते हैं:

"The (fourth) congress pointed out that in participating in the bourgeois democratic revolution **the working class had an aim of its own, namely, to lead the people on to a proletarian revolution after the complete success of the democratic revolution.** Therefore, the position of the working class in this revolution was different from the other classes. The working class must not be an appendage to the bourgeoisie, but keep its own independence and aims. **Only with the working class assuming the leadership could the Chinese democratic revolution score a complete victory."** (*ibid*, p. 44, *emphasis ours*)

तो जैसा कि आप देख सकते हैं कि चीनी क्रान्ति के इतिहास के मामले में भी सुखविन्दर ठोस अध्ययन पर नहीं बल्कि कल्पनाशक्ति पर ज्यादा निर्भर करते हैं।

सुखविन्दर को यह लगता है कि माओ ने नवजनवादी क्रान्ति की कार्यदिशा 1933 में अपनाई और चीन में तत्काल समाजवादी क्रान्ति की कार्यदिशा को 1933 में ही तिलांजलि दी। यह फिर से भयंकर अज्ञानतापूर्ण टिप्पणी है। माओ ने सबसे पहले नवजनवादी क्रान्ति की कार्यदिशा 1926 के अपने लेख 'चीनी समाज में वर्गों का विश्लेषण' में पेश की थी। उसके बाद हुनान प्रान्त में किसान आन्दोलन पर रपट में भी माओ इसी नतीजे पर पहुंचते हैं। इस विषय में भी हो कान ची की टिप्पणी बिल्कुल सटीक है:

"In order to oppose these two erroneous tendencies within the Party, Comrade Mao Tse-tung wrote in March 1926 the "Analysis of the Classes in Chinese Society."

"Basing himself on the Marxist-Leninist stand, viewpoint and method and the Leninist theory concerning the national revolution in the colonies,

> **Comrade Mao Tse-tung laid down the fundamental ideas of the new-democratic revolution, a revolution of the broad masses led by the proletariat and based on the worker-peasant alliance."** (*ibid,* p. 53, *emphasis ours*)

जैसा कि आप देख सकते हैं, माओ ने नवजनवादी क्रान्ति के मूल सिद्धान्तों की बुनियाद 1926-27 में ही रख दी थी, जो कि जनता की जनवादी क्रान्ति के लेनिन के सिद्धान्त का ही एक संस्करण था, जिसके अनुसार चार वर्गों के मोर्चे के आधार पर सामन्तवाद-विरोधी/साम्राज्यवाद-विरोधी/सामन्तवाद-साम्राज्यवाद विरोधी जनता की जनवादी क्रान्ति को अंजाम दिया जाएगा। जहां पर भी कौमी प्रश्न हल नहीं हुआ है और/या सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध बने हुए हैं, वहां पहले मज़दूरों के नेतृत्व में, किसानों व टटपुंजिया वर्ग की मुख्य शक्ति के साथ और राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के रूप में ढुलमुलयकीन मित्र के साथ जनता की जनवादी क्रान्ति को अंजाम दिया जाएगा। माओ ने इस कार्यदिशा की बुनियाद 1926 में ही रख दी थी जिसे वह लगातार विकसित करते हैं। मिसाल के तौर पर, माओ 1928 के अपने लेख Why is it that Red Political Power Can Exist in China? में लिखते हैं:

> **"China is in urgent need of a bourgeois-democratic revolution, and this revolution can be completed only under the leadership of the proletariat."** (Mao, 'Why is it that Red Political Power Can Exist in China?', *emphasis ours*)

सुखविन्दर को यह भी नहीं पता है कि चीनी पार्टी ने अपना शुरुआती कार्यक्रम जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम के रूप में ही निर्धारित किया था। न ही उन्हें यह पता है कि माओ ने नवजनवादी क्रान्ति का सिद्धान्त विकसित कब किया। उनकी मानें, तो 1933 तक माओ चीन में त्रॉत्स्कीपंथी कार्यदिशा पर चल रहे थे! अब जबकि सुखविन्दर कौमी सवाल पर चिन्तन में खुद ही त्रॉत्स्कीपंथ में पतित हो गये हैं, तो वह एक-एक करके सारे महान शिक्षकों को त्रॉत्स्कीपंथी बनाने पर तुल हुए हैं! क्या इतनी भारी तथ्यात्मक भूल करना मार्क्सवाद पर शिक्षण करने और संशोधनवाद से मार्क्सवाद की रक्षा करने निकले एक राजनीतिक व्यक्ति को शोभा देता है? क्या यह महज़ तकनीकी ग़लती है?

आगे बढ़ते हैं।

सुखविन्दर रॉबर्ट ओवन के बारे में भी एक टिप्पणी करते हैं जो कि सटीकतापूर्ण नहीं है:

> "क्योंकि, समाजवादी उत्पादन संबंधों के लिए ज़रूरी है, उत्पादन के साधनों का सामूहिकीकरण किया जाए। बुर्जुआज़ी करने देगी? अगर हम कहें कि लुधियाना की सारी फैक्ट्रियाँ मज़दूरों को देनी हैं कि दे दो हमें। फिर तो रोबर्ट ऑवन की लाइन पर चले जाएंगे हम।"

यह रॉबर्ट ओवन के बारे में कतई सटीक टिप्पणी नहीं है। ओवेन का कार्यक्रम कारखानों का *कम्युनिस्ट आधार पर सामूहिकीकरण* नहीं था, बल्कि एक प्रकार का "सहकारी समाजवाद" का था। वह अधिक से अधिक मज़दूरों की

भागीदारी वाला एक कल्याणकारी सहकारी कार्यक्रम था। उसमें भी अभी मज़दूर वर्ग को "प्रबोधन के पुरुषों" (Men of Enlightenment) की दरकार थी, जो कि उन्हें शिक्षित और प्रबोधित करते। दूसरी बात यह है कि सहकारी संघों के "समाजवाद" को पूंजीवादी व्यवस्था स्वीकार भी कर सकती है, जब तक कि वह मज़दूर राज्यसत्ता और समस्त उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीकरण पर आधारित न हो क्योंकि पूंजीवादी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में सहकारी संघ स्वयं एक पूंजीपति बन जाते हैं, भले ही वे मज़दूरों के सहकारी संघ हों। ऐसे सहकारी संघ एक (वैयक्तिक की बजाय) सामूहिक पूंजीपति बन जाते हैं। जो भी हो सुखविन्दर की टिप्पणी कतई एक सटीक टिप्पणी नहीं है और जब कोई राजनीतिक शिक्षण का काम कर रहा हो, तो सटीकता का ध्यान रखना उसका कर्तव्य बन जाता है।

जैसा कि हमने पहले भी दिखलाया, सुखविन्दर को मार्क्सवाद के वैचारिक विकास के बारे में सुसंगत जानकारी नहीं है। सुखविन्दर को यह भी नहीं पता कि 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' की उन शुरुआती लाइनों को एंगेल्स ने बाद में संशोधित किया था मार्क्स ने नहीं, जिसमें यह कहा गया है कि वर्ग संघर्ष सामाजिक विकास का इंजन है। सुखविन्दर लिखते हैं:

> "मार्क्स ने कहा था कि वर्ग संघर्ष समाज का इंजन है, यह कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो में लिखा है। बाद में उन्होंने इसे संशोधित किया।"

घोषणापत्र के पहले ही पृष्ठ पर फुटनोट में यह बताया गया है कि यह संशोधन बाद में एंगेल्स ने किया था, जब लुइस मॉर्गन के शोध ने दिखलाया था कि मानव समाज के विकास में आरंभिक मंजिल वर्गविहीन समाज की थी। एंगेल्स ने बताया कि समस्त *लिखित* इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है लेकिन बाद की खोजों ने दिखलाया कि उससे पहले मानव समाज में वर्गविहीन समाज की एक मंजिल थी, जिसे मॉर्गन समेत अन्य कई अध्येताओं के शोध ने प्रदर्शित किया।

मार्क्सवाद के इतिहास के विषय में सुखविन्दर अपने "ज्ञान-प्रदर्शन" को यहां नहीं रोकते हैं। आगे देखिये। सुखविन्दर कहते हैं:

> "1847 या 1846 में, बाकी आप जीवनी देख लीजियेगा, मार्क्स को निकाल दिया वहाँ से...नहीं उससे पहले ही निकाल दिया था, क्योंकि कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो तो इन्होंने इंग्लैंड जाकर लिखा है।"

फिर से ग़लत। मार्क्स व एंगेल्स ने कम्युनिस्ट घोषणापत्र इंग्लैण्ड में नहीं बल्कि ब्रसेल्स, बेल्जियम में लिखा था। इसकी पाण्डुलिपि को वहां से लन्दन भेजा गया जहां पहली बार वह प्रकाशित हुआ। अभी इतिहास के साथ सुखविन्दर की यह बदसलूकी खत्म नहीं होती, आगे वह कहते हैं:

> "तब तो (1847 या 1846 में) इन्होंने अभी जर्मन विचारधारा भी नहीं लिखी थी। मान लो अगर लिख ली जर्मन विचारधारा, लेकिन वह तो छपी ही 1925 में है, लेनिन की मृत्यु के बाद। मार्क्स-एंगेल्स ने दर्शन में क्रान्ति की 1845 में, जब उनकी पुस्तक आई जर्मन विचारधारा।"

पहली बात तो यह है कि तब तक (1847 या 1846 तक) मार्क्स 'जर्मन विचारधारा' लिख चुके थे, इसमें "मान लो" वाली कोई बात ही नहीं है। यहां भी सुखविंदर मार्क्सवाद के वैचारिक विकास के इतिहास को समझने

में अपने नाकामी को जाहिर करते हैं, यहाँ तक की तथ्य भी ग़लत बतलाते हैं। 'जर्मन विचारधारा' 1846 में पूरी हुई थी न कि 1845 में। उसके लेखन की शुरुआत 1845 के अन्त में हुई थी। इसके अलावा, सुखविन्दर 'जर्मन विचारधारा' के पहली बार प्रकाशन के बारे में भी ग़लत जानकारी देते हैं। 'जर्मन विचारधारा' पहली बार 1932 में छपी थी, 1925 में नहीं।

आगे सुखविन्दर फिर से दिखलाते हैं कि मार्क्सवाद के ऐतिहासिक वैचारिक विकास के बारे में उनकी जानकारी शून्य है। वह कहते हैं:

> "यह सबक मार्क्सवाद में नई चीज़ था, जैसे हम कहते हैं, मार्क्स-एंगेल्स ने शुरू में अर्थशास्त्र पर काम करना शुरू किया, उन्हें लगा कि अर्थशास्त्र का सवाल तब तक नहीं हल होगा जब तक दर्शन का सवाल नहीं हल होगा।"

बिल्कुल गलत। एंगेल्स ने अर्थशास्त्र पर थोड़ा पहले काम शुरू किया था, लेकिन मार्क्स ने अर्थशास्त्र से शुरुआत की ही नहीं थी। उनकी शुरुआत दर्शन और विचारधारा की आलोचना से हुई थी। अर्थशास्त्र के बारे में शुरुआत में उन्होंने उतना ही लिखा था, जितना दर्शन के विषय में लिखते हुए प्रसंगवश लिखा जा सकता था। शुद्धतः आर्थिक अध्ययन मार्क्स ने शुरू ही 1846-47 से किया जिसमें बीच-बीच में व्यवधान पड़ता रहा। कायदे से 1850 के दशक में ही उन्होंने गम्भीरता से यह काम हाथ में लिया। यानी सुखविन्दर को मार्क्स के विचारों के इतिहास के बारे में कोई जानकारी नहीं है, लेकिन वह लगातार उसके बारे में बोलते हैं और ग़लत बोलते हैं।

इतिहास के विषय में अपनी जानकारी के मामले में सुखविन्दर गप्प भी काफी हांकते हैं। सुखविन्दर का दावा है कि जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टी ने 20वीं सदी की शुरुआत में कभी जर्मनी में चुनाव जीत लिए थे जिसके कारण बुर्जुआजी ने चुनाव ही रद्द करा दिये! वह कहते हैं:

> "एक छोटी पार्टी का...और कोई भी क्रान्तिकारी पार्टी जब चुनाव लड़ती है, जर्मनी का उदाहरण है, जर्मनी में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी जब चुनाव जीती, सरकार ने चुनाव रद्द कर दिए। यह 20वीं सदी के शुरुआत की बात है।"

यह एकदम बकवास है। जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टी 1918-19 में गठित हुई थी और उसके बाद से चुनावों में उसका प्रदर्शन इस प्रकार था: 1920 में 459 में से 4 सीटें, मार्च 1924 में 472 में से 62 सीटें, दिसम्बर 1924 में 493 में से 45 सीटें, 1928 में 491 में से 54 सीटें, 1930 में 577 में से 77 सीटें, जुलाई 1932 में 608 में से 89 सीटें, नवम्बर 1932 में 584 में से 100 सीटें, मार्च 1933 में 647 में से 81 सीटें जिसके बाद जर्मनी में खुली तानाशाही अस्तित्व में आ गयी और संसदीय जनवाद समाप्त हो गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हुए पहले चुनावों में, यानी 1949 के चुनावों में पश्चिमी जर्मनी में 402 सीटों में से 15 सीटें और 1953 के चुनावों में 402 में से 0 सीटें। 1956 में पश्चिमी जर्मनी में इस पार्टी पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

तो जर्मनी में कम्युनिस्ट पार्टी ने चुनाव कब जीता था, जिसे बुर्जुआजी ने रद्द कर दिया था? कभी नहीं! फिर

सुखविन्दर ने यह कहां पढ़ा? रामजाने!

दूसरी बात यह कि ऐसा दावा करना भी द्वन्द्वात्मक नहीं है कि कोई क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी चुनाव जीत ही नहीं सकती है। **सैद्धान्तिक तौर पर यह सम्भव है, हालांकि साम्राज्यवाद के आज के दौर में इसकी सम्भावना न्यूनातिन्यून है। यह दावा करना सैद्धान्तिक तौर पर ज़रूर ग़लत होगा कि यदि कोई कम्युनिस्ट पार्टी चुनाव जीतती है, तो इससे राज्यसत्ता का सवाल हल हो जाता है।** यदि कोई कम्युनिस्ट पार्टी चुनाव जीत भी जाए तो यह समाज में वर्ग संघर्ष को आगे बढ़ाने वाला एक कदम मात्र होता है, लेकिन इससे राज्यसत्ता का प्रश्न हल नहीं होता है। यदि ऐसी पार्टी समाजवादी कार्यक्रम को लागू करने का प्रयास करती है, तो उसे पहले सर्वहारा वर्ग और उसके नेतृत्व में मेहनतकश जनता को संगठित, गोलबन्द और सशस्त्र करना होगा। क्योंकि समाजवादी कार्यक्रम को लागू करने का प्रयास करते ही बुर्जुआजी सशस्त्र प्रतिरोध करेगी, सेना, पुलिस, नौकरशाही का एक हिस्सा उसका साथ देगा और अन्य प्रतिक्रियावादी वर्ग उसका साथ देंगे। इस सशस्त्र प्रतिरोध का मुकाबला मेहनतकश जनता को गोलबन्द, संगठित और सशस्त्र करके ही किया जा सकता है। **इसका नतीजा होगा एक क्रान्तिकारी गृहयुद्ध।**

ऐसे क्रान्तिकारी गृहयुद्ध के ज़रिये ही राज्यसत्ता का प्रश्न हल हो सकता है। **इसलिए कम्युनिस्टों को ऐसा गैर-द्वन्द्वात्मक दावा करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है कि कम्युनिस्ट चुनाव जीत ही नहीं सकते और अगर जीत भी जाएंगे तो बुर्जुआजी चुनाव रद्द कर देगी या उनके दो-चार एमपी जीतते ही उनका एनकाउण्टर होना शुरू हो जाएगा। निश्चित तौर पर बुर्जुआजी ऐसी हर कोशिश करती है और करेगी, लेकिन हर-हमेशा वह अपने हितों के विपरीत जाने वाले चुनावों को रद्द कर देने की अपनी ऐसी कोशिशों में कामयाब हो जाती है, ऐसा ज़रूरी नहीं है। कई बार बुर्जुआ राज्यसत्ता खुद ही विसंगठित स्थिति में होती है, बुर्जुआजी के विभिन्न ब्लॉकों के बीच विसंगठन पैदा हो जाता है, और वह एक प्रकार के अर्द्ध पैरालिसिस की स्थिति में होती है। ऐसे में, बुर्जुआ वर्ग न तो इच्छा की एकता प्रदर्शित कर पाता है, और न ही उसे लागू कर पाता है।** हम बस इतना ही कह सकते हैं कि अव्वलन तो आज के दौर में बुर्जुआ जनवादी संसदीय चुनावों की व्यवस्था ही ऐसी है कि उसमें ***आम तौर पर*** कोई क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी बहुमत जीत ही नहीं सकती है और यदि जीत भी जाए, तो उससे राज्यसत्ता का प्रश्न हल नहीं होता है, वह तो क्रान्तिकारी गृहयुद्ध के ज़रिये ही हल हो सकता है।

अपनी इसी यांत्रिक और ग़ैर-द्वन्द्वात्मक बात को सिद्ध करने के चक्कर में सुखविन्दर दत्ता सामन्त के बारे में भी अजीबो-ग़रीब दावा करते हैं। उनका मानना है कि जब कम्युनिस्ट पार्टी रणकौशलात्मक तौर पर भी चुनावों में शिरकत करती है, तो दो-चार सांसदों के जीतने के बाद एनकाउण्टर शुरू हो जाते हैं। यहां तक कि दत्ता सामन्त जैसे किसी ट्रेड यूनियन लीडर को भी राज्यसत्ता मार देती है। सुखविन्दर कहते हैं:

> "रणकौशल के तौर पर भी एक हद के बाद एनकाउंटर...एक ट्रेड यूनियन के लीडर को तो मार देते हैं। दत्ता सामंत को मार दिया, वह कौन-सा चुनाव लड़ता था।"

पहली बात तो यह बात कहना भी एक नियतत्ववादी बात है कि बुर्जुआ संसदीय जनवाद में किसी क्रान्तिकारी पार्टी के अगर दो-चार एमपी जीतते हैं, तो फिर अनिवार्यत: उनका एनकाउण्टर, उन पर प्रतिबन्ध, उनका निर्वासन शुरू हो जाता है। ऐसा हो सकता है और नहीं भी हो सकता है। यह बहुत से कारकों पर निर्भर करता है।

हमने ऊपर इस बारे में बात की है।

दूसरी बात यह है कि दत्ता सामन्त चुनाव लड़ते थे! 1984 में उन्होंने एक स्वतंत्र उम्मीदवार के रूप में चुनाव लड़ा था और आठवीं लोकसभा में सांसद चुने गये थे। उसके बाद भी उन्होंने विधानसभा चुनाव लड़े थे।

और आखिरी बात यह है कि दत्ता सामन्त की हत्या राज्यसत्ता द्वारा नहीं की गयी थी और इसलिए नहीं की गयी थी क्योंकि वह पूंजीवादी जनवाद के लिए ख़तरा बन गये थे। मुम्बई के मज़दूर आन्दोलन के इतिहास में जुझारू यूनियनवाद, अपराध जगत और मालिकों के तार जुड़ने का एक लम्बा इतिहास रहा है और दत्ता सामन्त की हत्या भी मालिकों और माफिया के द्वारा की गयी थी, हालांकि अभी भी इसकी जांच जारी है। हत्या करने वाले लोग छोटा राजन गैंग से जुड़े हुए थे। इसके बारे में हम और विस्तार में यहां नहीं जाएंगे और न ही इसकी आवश्यकता है। मूल बात यह है कि सुखविन्दर ने क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी के चुनाव में जीतने पर चुनाव रद्द होने, दो-चार एमपी जीतते ही एनकाउण्टर होने आदि की अनिवार्यता को सिद्ध करने की प्रक्रिया में दत्ता सामन्त को भी बीच में घुसा दिया है और ग़ज़ब की खिचड़ी तैयार की है। एक बार फिर से हम उनके दिमाग़ी गड्डमड्डपन का एक उदाहरण देखते हैं।

आगे बढ़ते हैं।

सुखविन्दर प्रचण्ड के समाजवाद में बहुपार्टी जनवाद के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए कहते हैं:

> "मज़दूर वर्ग अपनी एक से अधिक पार्टियाँ बनाएगी। मज़दूर वर्ग का क्या दिमाग खराब हुआ है? जब मज़दूर वर्ग में कोई विभाजन नहीं है, फिर वह दो या चार पार्टियाँ क्यों बनाएगा। क्या मज़दूर वर्ग मज़दूर वर्ग के विरुद्ध लड़ेगा? पार्टी तो उसकी राजनीति का प्रतिनिधित्व करती है। क्या मज़दूर वर्ग की बहुत सी राजनीतियाँ होंगी?"

यह इस बात की सही व्याख्या नहीं है कि क्यों मज़दूर वर्ग की कई कम्युनिस्ट पार्टियां नहीं हो सकती हैं (यह भी समझना ज़रूरी है कि मज़दूर वर्ग की कई पार्टियां हो सकती हैं, उसकी कई कम्युनिस्ट पार्टियां नहीं हो सकतीं)। लेकिन सुखविन्दर मूर्खतापूर्ण सरलीकरण की दुनिया में सच्चे दोन किहोते की तरह अगड़म-बगड़म बकते रहते हैं।

दूसरी बात, मज़दूर वर्ग में विभाजन नहीं होते हैं, ये बात ही ग़लत है। उसमें विभाजन होते हैं, जैसे कुशल व अर्द्धकुशल का विभाजन, मानसिक व शारीरिक श्रम करने वाले मज़दूरों का विभाजन, पेशागत विभाजन, आदि। लेकिन उसका मूल राजनीतिक तर्क आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा नहीं होता; वह तो उस पर थोप दी जाती है क्योंकि लेबर मार्केट में उनके बीच भी प्रतिस्पर्द्धा होती है। लेकिन बुर्जुआजी का नैसर्गिक तर्क ही प्रतिस्पर्द्धा है। प्रतियोगिता के ज़रिये ही पूंजीवाद विकसित होता है, उसके बिना वह विकसित हो ही नहीं सकता। बुर्जुआजी एक वर्ग के तौर पर संघटित ही प्रतिस्पर्द्धा और मुनाफे के दर के औसतीकरण (averaging) **के ज़रिये होती है।** यही कारण है कि उसकी राजनीति की यह विशिष्टता होती है कि आम तौर पर उसे कई पार्टियों की आवश्यकता होती है। सर्वहारा वर्ग का मूल तर्क सामूहिकता है और यही वजह है उसकी राज्यसत्ता का जीवन-रूप (modus-vivendi) बहुपार्टी जनवाद नहीं हो सकता है। सुखविन्दर यहां इस मूल तर्क को भूल गये हैं या उसे वह समझते ही नहीं। वह

रेटॉरिकल सवाल पूछकर अपने तर्क की कमी को छिपाने का प्रयास करते हैं और उसमें भी कई भूलें कर बैठते हैं।

आगे सुखविन्दर बताते हैं कि चीन, वियतनाम आदि समाजवादी नहीं है और फिर क्यूबा के केस पर आते हैं। **इसके बारे में बताते हुए दर्शकों से ही पूछते हैं कि क्यूबा की क्रान्ति शायद 1961 में हुई थी न! एक इतिहास के आम विद्यार्थी को भी पता है कि क्यूबा में क्रान्ति 1959 में हुई थी।** लेकिन यहां हम एक सैद्धान्तिक मार्क्सवादी पत्रिका 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक द्वारा संशोधनवाद से मार्क्सवाद की रक्षा पर भाषण सुन रहे हैं और उसे लगता है कि क्यूबा की क्रान्ति सम्भवत: 1961 में हुई थी! यह महज़ तकनीकी भूल नहीं है, क्योंकि यह कोई अकेली भूल नहीं है बल्कि मार्क्सवाद और कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास में बारे में आम अज्ञान इस पूरे भाषण की खासियत है और यह भूल उसका एक हिस्सा मात्र है।

इस प्रकार की तथ्यात्मक भूलें सुखविन्दर के भाषण में भरी हुई हैं। **जैसे कि यह कि सुखविन्दर को लगता है कि पुतिन 2007 में सत्ता में आया। ग़लत। पुतिन 1999 में निर्वाचित हुआ था और 2004 में फिर से पुनर्निर्वाचित हुआ। 2008 में वह राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव में खड़ा नहीं हुआ था (क्योंकि रूस के संविधान में लगातार दो बार राष्ट्रपति बनने के बाद तीसरी बार कोई राष्ट्रपति चुनाव में खड़ा नहीं हो सकता है), जबकि नये राष्ट्रपति दिमित्री मेदवेदेव ने पुतिन को अपना प्रधानमंत्री नियुक्त किया था, जो कि पुतिन द्वारा सत्ता में बने रहने का ही एक उपाय था, क्योंकि यह केवल निरन्तरता तोड़कर फिर से राष्ट्रपति चुनावों में खड़े होने के लिए पुतिन द्वारा किया गया एक उपाय मात्र था। राष्ट्रपति के रूप में उसके दूसरे कार्यकाल का अंतिम वर्ष 2007 था।** इसी प्रकार, एक जगह सुखविन्दर बताते हैं कि फिलिप्स एक फ्रांसीसी कम्पनी है। यह भी ग़लत है। फिलिप्स मूलत: एक डच कम्पनी है। ऐसी तमाम तथ्यात्मक व ऐतिहासिक जानकारी की ग़लतियां सुखविन्दर के इस भाषण में भरी हुई हैं, हम यहां सब पर विचार नहीं कर सकते हैं और न ही इसकी कोई ज़रूरत है। जितने उदाहरण हमने यहां पेश किये हैं, वही सुखविन्दर की सैद्धान्तिक, ऐतिहासिक व तथ्यात्मक जानकारी को दिखलाने के लिए पर्याप्त है।

अन्त में...

हमने यहां केवल कुछ प्रातिनिधिक गलतियों को ही छांटा है। क्योंकि, जैसा कि हमने पहले बताया था, यदि एक-एक ग़लती का खण्डन करने बैठते तो पूरी पुस्तक ही लिखनी पड़ जाती। दर्शन, विचारधारा और राजनीति के क्षेत्र में, राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में, और साथ ही ऐतिहासिक विवरणों व तथ्यों के क्षेत्र में सुखविन्दर द्वारा जगरूप पर दिये गये इस भाषण में की गयी गम्भीर ग़लतियों में से हमने केवल प्रातिनिधिक ग़लतियों को छांटा है। यही सम्भव भी था।

हमने यह आलोचना लिखने का कार्यभार इसलिए चुना था क्योंकि जो भी साथी अभी तक इस बात का जवाब तलाश रहे हैं कि 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप में कौमवादी और भाषाई कट्टरतापंथी भटकाव क्यों आया, उन्हें यह प्रदर्शित कर सकें कि जब किसी की विचारधारात्मक व राजनीतिक समझदारी ही इतनी दरिद्र हो, तो वह कुछ समय किसी सही कार्यदिशा पर रह सकता है, लेकिन कालान्तर में उसका इस या उस, दक्षिण या "वाम",

भटकाव में पतित होना अनिवार्य होता है। या तो ऐसे व्यक्ति अपनी ग़लतियों और कमज़ोरियों को समय रहते दुरुस्त करते हैं, या फिर वे पहले विच्युति, फिर विचलन और अन्त में मार्क्सवाद से प्रस्थान के लिए अभिशप्त होते हैं। सुखविन्दर का इन भटकावों में पतन भी कोई संयोग नहीं था, बल्कि उनकी गम्भीर विचारधारात्मक व राजनीतिक कमज़ोरियां थीं जिन पर तब भी बहस जारी थी, जब हम एक राह के राही थे और अब भी जारी है, जब कि हमारी राहें अलग हो चुकी हैं।

ऐसे विचारधारात्मक टकरावों से आन्दोलन का विकास ही होता है। इसलिए एकता की तमाम कोशिशों के बावजूद यदि विचलनों को दुरुस्त नहीं किया जा सकता तो कार्यदिशा की शुद्धता को बरकरार रखने के लिए राहों का अलग हो जाना ही एकमात्र विकल्प बचता है। लेनिन ने इसीलिए संगठन की राजनीतिक व विचारधारात्मक कार्यदिशा की शुद्धता को बरकरार रखने को क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों की पहली प्राथमिकता बताया है।